हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन : समानताएँ व भिन्नताएँ

दलित आत्मकथाएँ दलित समाज के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक चरित्र का वर्णन है। इन कथाओं में दलित समाज के घुमंतू सामाजिक जीवन एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की झलक दिखाई देती है। पारिवारिक उतार-चढ़ाव और जाति का ऐतिहासिक वर्णन आत्मकथा में देखने को मिलता है। दलित जीवन के दुखों-सुखो एवं रीति-रिवाजों मान्यताओं का वर्णन आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में प्रस्तुत किया है। आत्मकथाकारों ने बहुत ही साहस के साथ अपने व्यक्तिगत जीवन के अनछुए पहलुओं को यथार्थ कथाओं में प्रस्तुत किया है। किसी भी समाज को समझाने के लिए सर्वप्रथम उसके परिवेश, वातावरण या व्यक्ति किस स्थान पर रह रहा है उसको देखना जरूरी हो जाता है, इसलिए हिंदी मराठी आत्मकथाकारों के परिवेश को देखना बहुत जरूरी है। उनमें क्या समानता है? और क्या भिन्नता है?

5.1 सामाजिक परिवेश:

तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा मुर्दहिया की भूमिका में लिखा है कि "'मुर्दहिया' हमारे गांव धर्मपुर (आजमगढ़) की बहुउद्देशीय कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वही से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाजार हो या मंदिर, यहाँ तक कि मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो मुर्दहिया से ही गुजरना पड़ता था। हमारे गांव की 'जियो-पॉलिटिक्स' यानी 'भू-राजनीतिक' में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केंद्र जैसी थी। जीवन से लेकर मरण तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी। विषेश रूप से मरे हुए पशुओं की मांसपिंड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला-स्थली के रूप

में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की हुआं-हुआं वाली आवाज उनकी निर्जनता को भंग कर देती थी। हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुख-दर्द अपने अंदर लिये मुर्दहिया में दफन हो गए थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' ही होता।"[1] तुलसीराम ने अपने गाँव के नजदीक मुर्दहिया नामक स्थान के विषय में बताया है। वह स्थान उनके गाँव से निकलने का एकमात्र रास्ता है, और उसी रास्ते पर जानवरों को चराने, मृत जानवरों की खाल निकालने, मुर्दों को जलाने और दफनाने, गिद्धों और कुत्तों के बीच मांस को लेकर झगड़ने का वही स्थान है। मुर्दहिया दलितों के लिए कर्मस्थली एवं अपने जीवन को बेहतर बनाने का रास्ता भी मुर्दहिया से ही होकर जाता है। तात्पर्य यह है कि दलितों को सर्वप्रथम शहरों में कमाने, अपनी पुरानी मान्यताओं और जड़ताओं को तोड़ने (विद्यालय) का भी रास्ता मुर्दहिया से ही होकर जाता है।

मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे के पहले भाग में अपने परिवेश के विषय में बताते हैं कि "हमारी बस्ती भी शहर की अन्य बस्तियों की तरह की बस्ती का नाम चमार गेट था फिर चमार दरवाजा हुआ। जिसे लोग चमार दरवज्जा ही अधिक कहते-बोलते थे बस्ती के सिरे पर एक बड़ा गेट था। पहले हमारी बस्ती शहर के भीतर एक कोने पर थी। शाम होते-होते दरवाजे बंद कर दिये जाते थे। इसी कारण बस्ती का नाम चमार गेट पड़ा। बस्ती में शिक्षा का प्रसार हुआ तो उसे जाटव गेट कहा जाने लगा। वैसे नगरपालिका के रजिस्टर में इसे बाद में करमअली नाम से ही जाना गया। चुनाव की पर्चियों पर भी यही नाम छपता था। कुछ लोग इसे चमारों का मोहल्ला भी कहते थे। आज भी रिक्शे-ताँगे वाले सवारी लेने के लिए जोर-जोर से चमार दरवज्जा कहकर पुकारते हैं।"[2]

नैमिशराय अपने समाज के जीवन विषय में बताते हैं कि दलित बस्ती में चमड़े का काम होता है जिससे उनके घर आँगन और छत पर से चमड़े सुखाये जाते हैं। जिसकी गंध पूरे बस्ती में फैल जाती है। नगर, कस्बे में प्रवेश करने के लिए एक द्वार होता है जिसको नगर या कस्बें के नाम से संबोधित किया जाता था, लेकिन इनके नगर के द्वार का नाम ही चमार दरवज्जा रख दिया गया था यह नाम वहाँ के निवासियों के द्वारा यह रखा गया है। इससे उस समाज के लोगों की भावनाएँ दलित समाज के

लिए दिखाई देती है। दलित समाजों के साथ कहीं-कहीं मुस्लिम समाज की भी बस्तियां रही हैं मोहनदास नैमिशराय के बस्ती के बगल में मुस्लिम समाज रहता था। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जूठन आत्मकथा में भी इसका उल्लेख किया है, "हमारा घर चंद्रभान तगा के घेर से सटा हुआ था। उसके बाद कुछ परिवार मुसलमान जुलाहों के थे। चंद्रभान तगा के घर के ठीक सामने छोटी सी जोहडी (जोहड का स्त्रीलिंग) थी, जिसमें चुहड़ों के बगड और गाँव के बीच एक फासला बना दिया गया था। जोहडी का नाम डब्बोवाली था। डब्बोवाली नाम कैसे पड़ा, कहना मुश्किल है हाँ, इतना जरूर है कि इस डब्बोवाली जोहड़ी का रूप एक बड़े गड्ढे के समान था, जिसके एक ओर तगा के पक्के मकानों की ऊँची दीवारें थी। जिनसे समकोण बनती हुई झीवारों के दो-तीन परिवारों के कच्चे मकानों की दीवारें थी। इसके बाद फिर तगाओं के मकान थे।"[3] वाल्मीकि अपने गाँव के विषय में बताते हैं कि बरसात के दिनों में गलियों कीचड़ से भर जाता था जिससे वहाँ चलना बहुत ही मुश्किल हो जाता था और बरसात का पानी जमा होने के कारण मच्छर और मक्खी पैदा होते थे महीनों बरसात का पानी भरा रहता हैं जिससे बस्ती के लोगों को बहुत ही कष्ट का सामना करना पड़ता था। तुलसीराम दलित समाज का अकाल के समय का विवरण देते हैं "सन 1959 की गर्मियों में संपन्न इस परीक्षा के दो महीने से ज्यादा समय की छुट्टियाँ थी। अकाल की गर्मी चरम सीमा पर थी। साथ ही समस्याएं भी वैसे ही थीं। मेरे पिताजी बार-बार मुझ समझाते रहे कि बेटा अब बहुत पढ़ाई हो गई। वे यह भी कहते रहे कि अब बहुत ज्यादा दिन तक उनसे हरवाही नहीं होगी 'अब तोहके हरवाही करै के पड़ी', ऐसा सुनकर मैं दहल जाता था।"[4] लेखक बताते हैं कि गर्मी और बरसात के समय में दलित समाज के पास खाने के लिए अनाज नहीं होता है, उनके पिता हरवाही का काम करते हैं और वह चाहते हैं कि उनका भी बेटा उन्हीं की भांति हरवाही करें। जिससे घर की आर्थिक स्थिति में थोड़ा सुधार हो। इन कठिन परिस्थितियों में भी लेखक ने आगे पढ़ने का निर्णय लिया। तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग मणिकर्णिका में बनारस की समाज के परिवेश के विषय में लिखा है। "एक हिंदू मान्यता के अनुसार जिस किसी का अंतिम संस्कार मणिकर्णिका घाट पर किया जाता है, वह सीधे स्वर्ग जाता है।

यह भी कहा जाता है कि शिव की पत्नी पार्वती के कानों में पहने जाने वाली मणि इसी जगह गंगा में खो गई थी, जिसके कारण इस घाट का नाम मणिकर्णिका पड़ा। इस घाट पर सदियों से लगातार चिताएं कभी नहीं बुझीं। अतः मृत्यु का कारोबार यहाँ चौबीसों घंटे चलता रहता है। सही अर्थों में मृत्यु बनारस का एक बहुत बड़ा उद्योग है। अनगिनत पंडों की जीविका मृत्यु पर आधारित रहती है। सबसे ज्यादा कमाई उस डोम परिवार की होती है, जिससे हर मुर्दा मालिक चिता सजाने के लिए लकड़ी खरीदता है। यह डोम परिवार उस पौराणिक कथा का अभिन्न अंग बन चुका है, जिसमें उसके पूर्वजों के हाथों पर कभी राजा हरिश्चंद्र बिक गए थे। डोम के गुलाम के रूप में राजा हरिश्चंद्र की नियुक्ति मुर्दाघाट की रखवाली के लिए की गई थी।"[5] तुलसीराम बताते हैं कि मृत्यु व्यक्ति के व्यवसाय का आधार बन गई है। यहाँ पर पंडे और डोम उन व्यवसाय के जरिये अपनी आजीविका चला रहे हैं। व्यक्ति की सारी संवेदनाएँ खत्म हो गई हैं। मृत्यु पर भी लोग उद्योग कर रहे हैं। शरणकुमार लिम्बाले गाँव में किसी व्यक्ति की मृत्यु की कामना करते है जिससे उनको भरपेट भोजन मिल सके। दोनों घटनाओं में अंतर यह है कि एक जगह वह व्यवसाय और दूसरे जगह वह भरपेट भोजन का जरिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जब कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं, तब वहाँ के विषय में बताते हैं कि "इंद्रेश नगर वैसे तो एक ही मोहल्ला था। लेकिन अंदरूनी तौर पर दो हिस्से में था। एक ओर वाल्मीकि रहते थे, तो दूसरी ओर जाटव, आपस में संबंध तनावपूर्ण थे। अक्सर मारपीट, लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। दो-तीन परिवार भाटडो के भी थे, जो सिक्ख थे। उनमें आपस में की लड़ाई-झगड़े लगभग हर रोज होते थे। कभी-कभी तो तलवारें भी खिंच जाती थीं। ऐसे चरम क्षणों में उनकी औरतें मर्दों को घरों में खींच लेती थीं। खूब शोर-शराबा होता था।"[6] लेखक बताते हैं कि नगर में भी दलित की एक निश्चित सीमा तय कर दी गई है। वह उसी में एकत्रित होकर रहते हैं और अन्य दलित जातियाँ उनके बगल निवास करती हैं।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा शिकंजे का दर्द में अपने विषय में बताया है कि "भारत के हृदय-स्थल मध्यप्रदेश के बानापुर गाँव में मेरा जन्म हुआ। बानापुर का पुराना नाम बरहानपुरा था।

होशंगाबाद जिले के सिवनी मालवा का यह रेलवे स्टेशन है। होशंगाबाद-सिवनी रोड पर होने पर यहाँ बस स्टैंड रहता है। तहसील सिवनी मालवा कस्बा जैसे छोटे शहर से जुड़ा यह गाँव थोड़ा उन्नत था फिर भी दूसरे गाँवों जैसा ही था। रेलवे स्टेशन के एक तरफ ऊँचा बाजार और नीचा बाजार में सवर्ण संपन्न लोगों के मकान और दुकानें थीं। रेलवे स्टेशन के दूसरी तरफ 'फेल' में मजदूर वर्ग के पिछड़े लोगों की बस्तियाँ थीं। हम लोग पिछड़ों उसे भी पिछड़े थे। ऊँची-नीच, जातिभेद की भावना सब तरफ व्याप्त थी। तब गाँव में बहुत छुआछूत थी। अछूत भंगी हरिजनों के घर गाँव के बाहर रहते थे, हिंदू महाजनों की बस्ती से दूर, कच्चे खपरैल घर।"[7] टाकभौरे बताती है कि जो संपन्न जातियाँ थी, वह दूसरी तरफ निवास करती थी। दलित समाज गाँव के अंतिम छोर पर निवास करता है। उनके समाज में भी छुआछूत, जाति-भेद देखने को मिलता है। किसी भी गाँव या कस्बे में दलित समाज को असुविधाओं वालें स्थानों पर रखा जाता है उन्हें गाँव के बाहर निवास करने के लिए स्थान दिया जाता था। ग्रामीण संरचना में प्रत्येक जाति के अलग-अलग कस्बे होते हैं उनकी जातियों के आधार पर वहाँ पर सुविधाएँ और स्वच्छता देखी जा सकती है। आज भी शहर को देखे तो जितनी भी निम्न जातियाँ या मजदूरवर्ग है वह स्लम में निवास करता है। आज भी यह अंतर गाँव एवं शहर में दिखाई देता है। "हमारे ग्रामीण जीवन में भूमिहीनता से बड़ी गुलामी और दूसरी नहीं थी। जो भू-स्वामी हैं उनका जुल्म, ज्यादती, आतंक सब जायज थे। फसल कटने या शकरकंदी खुदने के समय तो पेट भरा जा सकता था, अन्यथा रात खाते तो सुबह भूखे और सुबह खाते तो शाम को भूखे रहना होता था।"[8] बेचैन ने दलित समाज के पारिवारिक स्थिति की चर्चा कि अगर वह मेहनत मजदूरी करता है तो उसे एक टाइम का तो खाना मिल जाता है, लेकिन फिर रात के खाने के लिए उसके पास कुछ नहीं बचता है। दलित समाज के किसी एक परिवार की यह समस्या नहीं है बल्कि पूरे संपूर्ण कस्बे की यही समस्या है। "मेरे जन्म के समय मेरा घर-परिवार कैसा था, उसका गुजारा कैसे होता था, इन सवालों पर गौर करता हूँ तो थोड़ा हैरत और दहशत से भर जाता हूँ। तमाम सालों में दुनिया कहाँ-से-कहाँ पहुँच गयी। हम अपने घर-परिवार के साथ वहीं-के-वहीं रह गये। आज भी स्थिति कमोबेश वैसी है, जैसी मेरे जन्म के समय थी।

गाँव में आज भी मेरे घर में आसानी से रोटी नहीं जुटती है। रोजगार का कोई साधन नहीं है। गैर दलितों की तुलना में हालात बद से बदतर हो चुके हैं चमड़ा कमाने बनाने का धंधा तो दशकों पहले बंद ही हो गया था। डेढ़-दो- बीघे पुश्तैनी जमीन के तीन टुकड़ों में से एक बचा है। भला मेरे इस सर्वस्वहीन चमार घर को क्यों कोई इज्जत दे?"[9] बेचैन अपने गाँव के विषय में बताते हैं कि दलितों ने पहले के धंधे (चमड़े का काम) को बंद कर दिये हैं। उनके पास जमीन नहीं है जिससे खेती करके अपना भरण-पोषण कर सके। इनके गाँव के आसपास तो अहीर और वाल्मीकि समाज के लोग रहते हैं, अहीर अपने को सवर्ण समझते है और चमार को निम्न समझाते है। चमार वाल्मीकि समाज को निम्न समझता है, चमारों के भी दो भाग है एक चमार तो दूसरा जाटव। जाटव चमार को निम्न मानते है। यहाँ पर भी दलितों के साथ एवं दलित आपस में भी ब्राह्मणवादी मानसिकता के साथ व्यवहार करते है।

दया पवार अपनी आत्मकथा में अपने जन्म स्थान को ही अपने शोषण का कारण मानते हैं। वह कहते हैं कि "यह मुझे अच्छी तरह मालूम है। यदि मेरा जन्म बर्फीलें टुन्ड्रा प्रदेश में हुआ होता तो क्या ऐसा ही भूतकाल मेरे हिस्से में आता? वहाँ भी दुख-तकलीफें होंगी, परंतु उनका स्वरूप अलग होगा। इस तरह का मनुष्य-निर्मित भयंकर दुख न होगा।"[10] लेखक ने दलित समाज के पीड़ा, दुख-तकलीफ का मुख्य कारण प्राकृतिक निर्मित नहीं मनुष्य निर्मित माना है। मनुष्य प्राकृतिक निर्मित दुखों या कष्टों से उभर जाता है, और समय के साथ उसको भूल भी जाता है लेकिन मानव निर्मित व्यवस्था मनुष्य के साथ-साथ हमेशा चलती रहती है।

दलित समाज की मुख्य समस्या भूख है। काम न मिलने के कारण एवं अकाल पड़ जाने के कारण खाने के लिए कुछ नहीं मिलता था तो वह शहर की तरफ भी पलायन करते थे। दोहरा अभिशाप में कौसल्या बैसंत्री ने उल्लेख किया है "पारडी गाँव और आस-पास के गाँव में वर्षा न होने से अकाल पड़ गया था। गाँव से लोग शहर में आने लगे। साखरा बाई भी बाबा को लेकर नागपुर आ गई। पहले वह भी आजी के घर के पास ही रहती थी। बाद में धरमपेठ नामक जगह पर दो कमरे का टूटा-सा मकान खरीदा। घर मिट्टी का बना था। बाबा और साखरा बाई ने मिलकर इस घर को दुरुस्त

किया। लीप-पोतकर बहुत अच्छा बना लिया और वे दोनों वहाँ रहने लगे। यह घर धरमपेठ की दलित लोगों की बस्ती में था। अब बाबा बड़े हो गए थे और उनको नौकरी करना जरूरी हो गया था। वे नौकरी की तलाश करने लगे। आखिर उनको नागपुर के सी.पी. क्लब में नौकरी मिल गई।"[11] मराठी दलित आत्मकथा में गाँव से शहर की तरफ पलायन बड़ी मात्रा में दिखाई देता है। लेकिन हिंदी दलित आत्मकथा में गाँव से शहर की ओर लोग शिक्षा प्राप्त करने के लिए ही जाते हैं या नौकरी प्राप्त करने के उपरांत ही शहर जाकर बसते बसते हैं। उत्तर भारत के बुंदेलखंड इलाके में गर्मी के मौसम में ज्यादातर लोग शहर की तरह मेहनत मजदूरी के लिए चले जाते और जब मौसम ठीक होता है तो अपने गाँव की ओर लौटकर वापस आते है। इनकी मुख्य समस्या गर्मी में पानी न होना ही है, लेकिन दलित शोषण, अकाल दोनों के कारण शहर की ओर रुख करता है।

दलित समाज में शिक्षा न होने के कारण उनमें बीमारियों के प्रति अंधविश्वास भर दिया गया था। वह उन बीमारियों को अंधविश्वासों के द्वारा उसे ठीक करने का प्रयास करते थे। उर्मिला बताती है कि "उन दिनों हैजे और महामारी से तो गरीब मरते ही थे, परंतु टाइफाइड, निमोनिया आदि कभी कोई इलाज नहीं था। मेरा बड़ा भाई अच्युत कॉलेज के दूसरे वर्ष में पढ़ रहा था। उसे टाइफाइड हुआ और वह चल बसा... तब मैं सात या आठ बरस की रही हूँगी। तभी से अच्युत की मृत्यु की याद एक घटनाक्रम से जुड़ी है।"[12]

लक्ष्मण गायकवाड ने अपने समुदाय के विषय में बताया कि जाति के नाम पर उन्हें चोर समझ लिया जाता और पुलिस प्रशासन उन्हें परेशान करता और वहाँ की आम जनता उन्हें कोई काम नहीं देती तथा उनके शोषण का भी शिकार होते हैं। अपने गाँव और कस्बे के विषय में बताते हैं कि "जिस समूह के पास न कोई गाँव है, ना खेत, न कोई जाति और न जन्मदिन के हिसाब-किताब की पद्धति- ऐसी ही एक जाति में मैं जनमा। लातूर तहसील के धनेगाँव नामक गाँव की एक उठाईगीर जाति में मेरा जन्म हुआ। इस धनेगाँव को ही मैं अपना 'वतन का गाँव' कहता हूँ। जब मैं छोटा था तब मेरे घर पर घास-फूस का छप्पर था। यह छप्पर मुझे गौरैया के घोसले की तरह लगता। जमीन पर बैठकर रेंगते हुए

ही हम सबको इस घर के भीतर जाना पड़ता था। दादी तरसाबाई घर का खर्चा चलाती थी। दादा बेकार हो चुका था। उसे दिन में दो बार पुलिस-स्टेशन में हाजिरी लगवानी पड़ती थी। इस कारण का कोई काम नहीं कर सकता था। वैसे बहुत पहले से हमारा पूरा घर दादा लिंगप्पा ही चलाता था। दूर-दराज के पहले गाँवों में वह जेब काटने, उठाईगीरी करने जाता था और घर चलता था। इस पूरे इलाके में उन दिनों वह उठाईगीरों में बहुत मशहूर था।"[13] दलित समाज के प्रत्येक घरों की स्थिति ऐसी ही थी। वह घास-फूस के घर बनाते और एक ही घर में पूरा परिवार रहता। बरसात के दिनों में उन से पानी टपकता था। सवर्ण जाति के लोग दलितों को ब्याज में पैसे देते और उनसे उस ब्याज का दुगना पैसा वसूल करते, कभी-कभी तो वह उनकी घर, जमीन तक हड़प लेते थे। दलित समाज की महिलाओं ने भी अपनी परिस्थिति को बताया है, जीवन हमारा में बेबी कांबले लिखती हैं कि "हम केवल बच्चे ही तो पैदा करते थे। दुष्ट लोगों की सेवा के लिए इन बच्चों को तैयार कर हम लोग आधा जीवन जीकर मर जाते थे। गरीब इंसानों का जीवन तीस-चालीस वर्ष से अधिक का नहीं था। तीस- चालीस वर्ष में ही वह मिट्टी में मिल जाते थे। लेकिन अपने पीछे सेवादारों को छोड़ जाते थे। उनके मिट्टी में मिल जाने के बाद उन्हीं की संतानें फिर धरतीमाता की और राक्षसों की सेवा करने के लिए तैयार हो जातीं। एक तरफ पेटभरे सुखी लोगों का समाज था, तो दूसरी तरफ अन्न के दानों को तरसताघोर दरिद्र समाज था। इन घोर गरीबों के हाहाकार और विलाप से धरती काँप उठती थी।"[14] दलित महिलाओं ने अपने दोहरे शोषण को उजागर किया है। वह घरों एवं खेतों में काम करती और पितृसत्तात्मक समाज के साथ-साथ ब्राह्मणवादियों में सामंतवादी मानसिकता के लोगों का भी विरोध झेल थी। सामाजिक शोषण के साथ-साथ महिलाओं का शारीरिक शोषण भी होता था।

हिंदी दलित आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लेखक एवं उनका परिवार या उनके समाज के लोग अपनी आजीविका के लिए मेहनत मजदूरी एवं चमड़े का कार्य करते हैं। दलित समाज का उनके सामाजिक जीवन स्तर एवं अन्य समाज के लोगों के बीच जीवन स्थितियों का पता लगाया जा सकता है। जिसका वर्णन दलित आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। "गली में हमारे दो घर थे। एक में बा

चप्पल बनाता था। दूसरे में माँ के साथ मैं सोता था। जिस घर में चप्पल का काम होता था उसे हम दुकान कहकर पुकारते थे। वहाँ ढेर- सारा सूखा, गीला चमड़ा पडा होता था। चमड़ा भी अलग-अलग तरह का-बनवर, कटई, कॉफ़ (गाय का चमड़ा) पुटठा। कुछ कटे हुए टुकड़े तो कुछ सबूत। बनी हुई छप्पल, बच्चों के सैंडल भी होते थे। बा उन दिनों बच्चों के सैंडल अधिक बनाता था। साथ में एक-दो कारीगर भी वहीं बैठते थे। दुकान में चमड़े की कसैली गन्ध होती थी। बा हुक्का भी पीता था।"[15] दलित समाज में भी जातिगत भेद हैं इनके कार्य इनकी जाति के आधार पर ही निर्धारित किये जाते हैं। जो चमड़े का कार्य करते हैं उन्हें चमार और जो चमड़े का कार्य नहीं करते हैं, उन्हें जाटव कहते हैं। जो साफ-सफाई का कार्य करते हैं उन्हें भंगी कहते हैं। अपने जन्म आधारित कार्य को भी कुछ लोग नहीं करते हैं। वह मेहनत मजदूरी या हरवाई किया करते हैं। इसी से उनकी आजीविका चलती है। इतनी मेहनत-मजदूरी करने के बाद भी पेट-भर भोजन नहीं मिलता है। बच्चे कपड़े और जूते के आभाव में विद्यालय जाते। "पाँवों में जूता अभी भी नसीब नहीं हुआ था। कपड़े का जूता तक नहीं खरीदा सका था मैं। स्कूल में रोज-रोज डाँट भी खानी पड़ती थी। चप्पलें ही थीं बस जिन्हें पहनकर सर्दी में स्कूल जाता था। पाँवों की दोनों अंगुलियाँ कभी-कभी सूज जाती थीं। बा से मैं जानबूझकर इस बारे में कुछ ना कहता था। इसलिए कि मुझे मालूम था कि वह जूता नहीं खरीद सकता।"[16] दलित समाज मेहनत-मजदूरी से कभी भी पीछे नहीं हटा उसने अपनी और अपने परिवार की भूख मिटाने के लिए जो भी संभव बन पड़ा है वह किया। महिलायें रात-दिन काम किया करती थी, और पुरुष भी दिन-भर काम करते थे, लेकिन सामाजिक व्यवस्था ऐसी कि उन्हें जरुरी सामान, भरपेट भोजन नहीं मिलता था। तो सम्मान से जीने, घर और भूमि की बात ही क्या किया जाये। "हमारी जात के मर्द-औरतों को चौबीस घंटे उनकी सेवा करने को तत्पर रहना ही पड़ता था। दिन का कोई समय हो, रात कितनी भी गहरी हो गयी हो। सवर्णों का मूलमंत्र भी तो यही था। दलितों को पुरानी पीढ़ी के साथ नई पीढ़ी को भी गुलाम बनाकर रखना। हमारा काम था सेवा करना। हम सेवादार थे और वे हमारे मालिक। उनके हाथ में हंटर होते, चाकू होते, लाठी बल्लम होते। वे इनके साथ धर्म, भाग्य और भगवान के हथियार भी इस्तेमाल

करते। यही तो हमारा भाग्य है। ऐसा हमें बार-बार याद दिलाया जाता है।"[17] दलित समाज को अपनी सेवा करने के लिए सवर्ण गुलाम बना कर रखते और इसे भाग्य एवं भगवान से जोड़कर उनके विद्रोह और दमन की शक्ति को खत्म कर देते इसलिए दलित समाज हमेशा दुख-दर्द और अभाव में जीवन जीता रहा है। शिक्षा ही एक ऐसा हथियार था जिससे इन सारी कष्टों से निदान मिल सकता था। डॉ.. भीमराव अंबेडकर के विचारों ने दलित समाज बहुत गहरा प्रभाव पर डाला, जिससे दलित समाज शिक्षा की ओर अग्रसर होते हैं, और जीवन के हर एक कठिनाई से लड़ने के लिए तैयार होते हैं। "शिक्षित बनो, संगठित बनो, और संघर्ष करो। पर कौन संघर्ष करे और कैसे, दो रोटी खाने को नहीं, शरीर पर कपड़ा नहीं, रहने को सिर के ऊपर छत तक नहीं। घुमंतू जातियाँ फिर भी ठीक, कहीं भी जाकर डेरा डाल लिया और काम शुरू। वे शहर के भीतर भी जाते और बाहर भी। पर दलितों की स्थिति तो बहुत विकट थी। उन्हें शहर क्या गाँवों के भी हाशिए पर रखा जाता था। वह पढ़-लिख रहे थे, पर उन्हें नौकरी नहीं, नौकरी भी मिल गई तो रहने को किराये का मकान कौन देता है। इस तरह के सवाल किसी एक को ही नहीं झिंझोड़ते थे बल्कि समूचे दलित समाज को मथते थे।"[18] दलित समाज शिक्षित होकर नौकरी या अन्य व्यवसाय करता है तो उसे रहने के लिए मकान नहीं है। दलित समाज को शहर में सामाजिक बहिष्कार देखने को मिलता है। नौकरी के दौरान अन्य जातियों के लोग इन्हें हीनभावना से देखते हैं। "स्कूल में मेरे आने की देरी नहीं हुई थी कि सवर्ण अध्यापकों के पेट का पानी हिलने-डुलने लगा था। वह मेरे पीछे ही नहीं बल्कि सामने भी आरक्षण के खिलाफ नमक-मिर्च लगा कर खूब चटखारे लिया करते थे। मैं आरक्षण के समर्थन में अपनी दलील देना चाहता, कुछ कहने का प्रयास भी करता, पर वह सुनते ही नहीं। वे आरक्षित पदों पर कार्यरत कर्मचारियों का मजाक उड़ाते। उनके भीतर तरह-तरह की कमियाँ निकालते। दो-चार सप्ताह में ही मुझे अहसास हो गया था कि वह सब पढ़ने में कम रुचि लेते हैं और राजनीति करने में अधिक। क्लास रूम में बच्चे शोर मचाते।"[19]

दलित समाज का व्यक्ति अगर पढ़-लिखकर नौकरी प्राप्त कर लेता है तो ब्राह्मणवादी व्यवस्था उसके काम और सम्मान को हमेशा नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। "क्यों प्यारे! क्या प्रक्रिया है इस

पद को ग्रहण करने पर?... कुछ मत कहना। तुम चाहे जितने बड़े लेखक, बुद्धिजीवी बन जाना, हमारी बनाए व्यवस्था घुमा-फिराकर तुम्हें यही अहसास कराती रहेगी कि तुम्हारी असली जगह क्या है! मेरी मानो, चुपचाप बिना कुछ कहे अपने ऑफिस में बैठो और सरकारी काम के साथ-साथ उस अनुभाग में कार्यरत सफाईकर्मियों को जीने का सलीका सिखाओ। यह मानकर कि चाहे किसी भी मानसिकता के तहत तुम्हें वहाँ भेजा गया है लेकिन सही भेजा गया है, यह सिद्ध कर दो।"[20] दलित व्यक्ति जब नौकरी प्राप्त करता है तो उसे ऐसा अनुभाग दे दिया जाता है जिसमें वह अपने पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही व्यवस्था को ही देख सके और अपनी ही जाति के कर्मचारियों के संग रह सके।

तुलसीराम ने अपने पारिवारिक जीवन स्थिति को बताया है। "मेरे दादा-परदादा गांव के ब्राह्मण जमीदारों के खेतों पर बंधुआ मजदूर थे। उन जमीदारों ने ही कुछ खेत उन्हें दे दिया था। गांव के अन्य दलित भी उन्हीं जमीदारों के यहां हरवाही (हल चलाने का काम) करते थे। यह हरवाही को पुश्त-दर-पुश्त चली आ रही थी। मेरे परिवार में पिता जी के अन्य चारों बड़े भाई हरवाही नहीं करते थे। क्योंकि उनके बड़े-बड़े कई बेटे थे, जिनमें से पांच आसनसोल की कोयला खदानों, कलकत्ता की जूट मिलों में लोहे के कारखानों में काम करते थे। किंतु मेरे पिताजी को खानदानी हलवाही से कभी मुक्ति नहीं मिली। वे अकसर कहा करते थे कि यदि हरवाही छोड़ दूंगा तो 'ब्रह्महत्या' का पाप लगेगा। अत्यंत धर्मांध होने के कारण वे हरवाही को बना जन्मसिद्ध अधिकार एवं पवित्र कार्य समझते थे।"[21] तुलसीराम दलितों के सामाजिक कर्तव्य की बात अंधविश्वास के माध्यम से बताया है। कैसे उनके भीतर अंधविश्वास भर दिया गया कि अगर सवर्णों की सेवा न की तो यह पाप होगा। जिसका खामियाजा उन्हें भुगतना होगा इसी के चलते उनके पिता हरवाही कर रहे हैं। नहीं तो वह भी किसी अन्य शहर में जाकर मजदूरी कर सकते थे। दलित समाज के ऊपर सबसे बड़ी समस्या बरसात का मौसम था, बरसात न होने पर फसल नहीं पैदा होती थी और वह सूखा घोषित कर दिया जाता था। उनके घर में खाने की समस्या हो जाती थी। सूखे को भी कभी-कभी अंधविश्वास से जोड़ा जाता था इसका उदाहरण तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा मुर्दहिया में दिया है। "उधर वापस गांव में देखा जाए

तो सन 1958-59 लगभग 1957 का ही अग्रसारित रूप था। इस अवधि में हमारे पूरे क्षेत्र में भयंकर सूखा पड़ गया तथा दोनों वर्ष बहुत कम वर्षा हुई थी। चारों तरफ हाहाकार मचा हुआ था। उचित सिंचाई के साधन की निहायत कमी के कारण अधिकतर फसलें सूख गई थीं। अतः1957 में नवग्रहों के मिलने से होने वाली अनिष्ट की अफवाहों का 'साकार रूप' सूखे से उत्पन्न स्थिति में लोगों को साफतौर पर दिखाई देने लगा था। इसलिए अंधविश्वासों का हद से ज्यादा बोलबाला हो गया था। खाद्यान्नों की कमी के कारण लोग भूखमरी के शिकार होने लगे थे। अनेक गांवों में विशेष रूप से दलित परिवारों के लोग रात में अक्सर फाका करने लगे थे। हमारे घर वालों की भी यही स्थिति थी। हमारी दादी हुक्की पीने की बड़ी शौकीन थी। इसलिए बोरसी में हमेशा कंडे की आग सुरक्षित रहती थी। दलित बस्ती के अनेक औरतें चूल्हा जलाने के लिए प्राय: रोज दादी से आग मांगकर ले जाती थीं। उस समय अनेक घरों में फाका के कारण चूल्हे नहीं जलते थे, इसलिए दादी से कोई जब आग मांगने नहीं आता तो वह बड़ी दुखित होकर कहती कि लगता है उनके घर खाना नहीं पकेगा।"[22] वर्षा न होने के कारण या कम होने के कारण उसका सीधा प्रभाव दलित समाज पर पड़ता था। उन्हें मजदूरी नहीं मिलती थी जिससे उनके घर में भूखमरी की स्थिति हो जाती थी। इससे बचने के लिए दलित समाज रात का भोजन करना बंद कर देता था। वह भोजन के वैकल्पिक रूप का सहारा लेता था। तुलसीराम जब बीएचयू पढ़ने आते हैं उस दौरान नवरात्रि के समय उनके पास खाने के लिए कुछ नहीं होता है। तब वह अपने 'ओथेलो' शेक्सपियर की रचना को बेचकर भूख मिटाते हैं। "मेरे हाई स्कूल वाले प्रधानाचार्य धर्म देव मिश्रा हमेशा कहा करते थे कि बनारस कोई भूखा नहीं रहता है, कहीं न कहीं से शाम को खाना अवश्य सब मिल जाता है। मेरा उनकी इस धारणा में अटूट विश्वास हो गया था। किंतु भदैनी में यह विश्वास टूटकर चकनाचूर हो गया। मुझे पहली बार ऐसा लगा कि मान्यताओं या आस्थाओं से जिंदगी नहीं चलती। गौतम बुद्ध ज्ञान की तलाश में में महीनों भूखे रहकर श्मशान साधना करते थे और नर कंकालों का सिरहाना बनाकर वहीं सो जाते थे। भूख की हालत में उन्हें यह वैज्ञानिक अनुभूत हुई कि खाली पेट मस्तिष्क काम नहीं करता, इसलिए वे खाने लगे। खाली पेट रहना

मेरे लिए यह विकराल समस्या थीं। अत: उस 'नवरात्रि व्रत' के अंतिम दिन मेरा दिमाग चल पड़ा। उन दिनों बी.एच.यू. गेट के सामने वाले लंका मोहल्ले में 'स्टूडेंट फ्रेंड' नामक एक किताबों की दुकान होती थी जिसमें विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगाई गई पुस्तकों की खरीद-फरोख्त होती थी।"[23]

दलित समाज की सबसे मुख्य समस्या भोजन की थी। जो उनकी आत्मकथाओं में देखने को मिलती है। दलित समाज हिंदू समाज की तरह रूढ़िवादी एवं परंपरावादी नहीं था वह परिस्थितियों और उनके अनुसार हो रहे समाजिक परिवर्तनों को भी स्वीकार करता है। "पुनर्विवाह करना, विधवा विवाह करना या स्त्री-पुरुष को परस्पर सहमति से छोड़ना-जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसे जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है, जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी-भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहती है। अपनी माँ और बहन के वैधव्य के उदाहरण मेरी स्मृति में जिंदा हैं, कम से कम मेरे सामाजिक परिवेश में विधवा विवाह का विरोध और सतीप्रथा दलित स्त्रियों की समस्याएँ कभी नहीं रही हैं।"[24] दलित समाज में पुनर्विवाह, विधवा, विवाह बहुत सामान्य सी प्रक्रिया मानी जाती है। दलित समाज में स्त्री-पुरुष किसी से भी अपने सामाजिक संबंध बना सकते थे। वह उन्हें तोड़ भी सकते थे। दलित समाज में सती प्रथा या अन्य प्रथाएं देखने को नहीं मिलती। बेचैन के पिता की मृत्यु होने के बाद उनकी माँ ने पुनर्विवाह किया। लेकिन इस विवाह से उन्हें वह अधिकार नहीं मिला क्योंकि वह सौतेला बेटा कहलाते थे वह बताते हैं कि "इस प्रकार मेरा बचपन मेरे बोझ लेकर मेरे कन्धों पर सवार होना शुरू हो गया था। बचपन मैं छोड़ नहीं सकता था और भार लेकर दौड़ नहीं सकता था। जीवन की मंजिलें आवाज दे रही थीं। रास्ते अनिश्चित और अपरिचित थे पाली में मेरा गुजारा नहीं था। मैं यहाँ अवांछित तत्व था। बचपन के निर्वाह की जिम्मेदारियाँ खुद के कंधों पर थी।"[25] दलित समाज का मुख्य कार्य चमड़े का व्यवसाय और गाँव की सफाई करना और सवर्णों के यहाँ जाकर मेहनत मजदूरी करना है, लेकिन अब कुछ जातियाँ शहरों की तरफ भी जा रही हैं। बेचैन चमारों के अंदर की भिन्नता बताते हुए चर्चा करते है। "रंगइया, चर्म-शोधक या चर्मकार और भट्टे पर जाने वाले जाटव भूमिहीन थे। जो थोड़ी-बहुत जमीन के मालिक थे, वे न चमड़े का काम करते थे न भट्ठों पर जाते थे। सिर्फ खेती

और मजदूरी करते थे यहाँ की चमारों के दो अलग-अलग मोहल्ले थे। आज भी अलग ही हैं। उनके अलग-अलग कुएँ थे। बारातें भी अलग-अलग ठहरती थीं। वैसे दैनिक जीवन में सब साथ बैठते-उठते थे। इनमें परस्पर खान-पान नहीं होता था। परंतु गैर-दलितों की दृष्टि में वे सब चमार थे।"[26] हिंदू धर्म में परंपराएँ और रूढ़ियां, शोषणकारी तरीके से दलित शोषित हो रहे थे। इसलिए दलित समाज अन्य जगहों पर पलायन कर रहा था और अन्य धर्म को समझ और देख रहा था ऐसे ही बेचैन ने सिख धर्म के विषय में बताया है। "हिंदू धर्म में हमारी जगह क्या थी, कहाँ थी? थी भी या नहीं, यह बात अलग थी। जमीन-जायदाद वालों में ऊंची जाति के सिख थे, और अल्पभूमि या भूमिहीनों में रविदास और मजहबी सिख होते थे। ये छोटी जोत वाले होते थे और अपनी किसानी का काम खुद ही करते थे। इनका रंग ज्यादातर काला होता था। शादी-विवाह उनमें भी भौतिक हैसियत के अनुसार ही होती थे। सिखों में भी जात-पाँत थी पर हिंदुओं जैसी छुआछूत वहाँ हमारे साथ नहीं थी। किसी प्रकार अतार्किक कर्मकांड व पाखंड भी वहाँ नहीं था। मजदूरों की महिलाएँ पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर काम किया करती थीं, बल्कि वे खेतों से हारी-थकी झुग्गियों में आकर खाना बनाती थीं, और कपड़े धोती थीं और उनके बच्चे साथ-साथ काम किया करते थे।"[27]

कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा दोहरा अभिशाप में अपने जीवन के विषय में विस्तार से चर्चा की है। आजीविका चलाने के लिए लेखिका के माता-पिता दोनों मिल में काम करते थे। पारिवारिक काम वह दोनों मिलकर किया करते थे, भारतीय सामाजिक मान्यता के अनुसार अगर किसी को बेटी है तो वह बेटे की इच्छा रखता है। कौसल्या बैसंत्री की पाँच बहनें थी, भाई नहीं था। इसी का दुख उनकी माँ को हमेशा होता था। वह हमेशा बार-बार कहा करती थी कि मैंने ऐसा कौन सा पाप कर दिया है कि मुझे इतनी बेटियाँ है। दलित महिलाओं का शोषण दोहरे तरीके से हो रहा था यह कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा में देखने को मिलता है कि एक महिला मिल में काम करने जाती है। उसे अन्य पुरुष छेड़ता और परेशान करता हैं तो वह गुस्से में सीमेंट का एक गोला बनाकर पुरुष को दे मारती है, और घर आ जाती है। अन्य पुरुष देख कर हँसते हैं लेकिन कुछ बोलते नहीं। जब यह पूरी

घटना वह अपने पति को बताती है तो "पति का काम था कि जाकर उस बदमाश को डाँटे-फटकारे। परंतु उसने अपनी औरत को ही डाँटना शुरू किया, मारा और कहने लगा कि और औरतें भी वहाँ काम करती हैं, उन्हें वह कुछ नहीं कहता और तुम्हें ही क्यों छेड़ता है? तुम ही हो यह कहकर उसे रात भर घर के बाहर रखा परिचारी घर के पीछे रात भर डर डर के रही और सवेरे उसे गधे बदचलन हो, यह कहकर उसे रात भर घर के बाहर रखा। वह बिचारी घर के पीछे रात भर डर-डर के रही और सवेरे उसे गधे पर बैठाया गया। बस्ती से बाहर निकालने के बाद वह बेचारी झाड़ी में छिपी रही क्योंकि उसके बदन पर पूरे कपड़े नहीं थे। रात में वह बस्ती में कुएँ में कूद गई। सवेरे उसका शरीर पानी के ऊपर तैर रहा था। उसके माँ-बाप आए और कहने लगे कि हमारी नाक कटवाई, अच्छा ही हुआ कि यह कुलटा मर गई। इस औरत के दो छोटे लड़के थे। एक पाँच वर्ष का दूसरा तीन वर्ष का। उसके आदमी ने छ: महीने बाद दूसरी औरत से शादी कर ली।"[28] भारतीय समाज में सामाजिक इज्जत की जिम्मेदारी एक महिला की ही है। चाहे उसकी कोई गलती हो या फिर न हो। सबसे पहले उसी को ही दोषी ठहराया जाता है। महिलाओं के साथ यह अन्याय पूर्ण कार्य भारतीय समाज की परिपाटी बन चुका है।

मराठी दलित आत्मकथाओं में प्रगतिशीलता के भी विचार दिखाई देते हैं। सवर्ण लड़के ने एक महार लड़की से शादी की घटना अछूत आत्मकथा में मिलती है। "उन दिनों संगमनेर में एक अंतर्जातीय विवाह बहुत चर्चित रहा। दूल्हा ब्राह्मण और दुल्हन महार। लड़की संगमनेर मारवाड़ की थी। शायद उसका नाम हंसा था। हंसों-सी सुंदर। यह प्रेम-विवाह नहीं था। सीधे प्रपोज्ड मैरिज थी। हाईस्कूल में एक ब्राह्मण शिक्षक थे। वे अपनी प्रगतिशील विचारों से पहचानने जाते। नाम देशपांडे। उसने अपने इकलौते बेटे के लिए हंसा का हाथ माँगा। गाँव में खलबली मच गई। कुछ लोगों को शिक्षक विक्षिप्त लगे। कोई कहता, "दूल्हा लड़का टी.बी. से बीमार है। उसे अपनी जाति में कोई लड़की नहीं देता, इसलिए महार की बहू बनाने चला है।" शादी धूमधाम से होती है। कलेक्टर, प्रसिद्ध नेता शादी में आते हैं। पर इसका अंत बहुत दुखद हुआ। एक लड़के को जन्म देकर दूल्हा लड़का चल बसा। हंसा और सफेद माथा लेकर मारवाड़ में वापस आती है।"[29] यह हिंदी आत्मकथा में शादी-

विवाह अपने जाति व अपने समाज में किया जाता है, लेकिन मराठी आत्मकथा में यह सामान्य जातियों एवं मुस्लिम धर्म में भी होता है। इसका प्रभाव डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचार 'रोटी और बेटी के सम्बन्ध' का है।

दलित समाज आजीविका चलाने के लिए किसी भी कार्य को करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसका उदाहरण यादों के पंछी आत्मकथा में देखने को मिलता है। "गाँव के पटेल के ढेरों को चराने के काम पर मुझे लगा दिया गया। तीन बार भोजन और साढ़े चार रुपये प्रतिमाह वेतन निश्चित हुआ। कुछ दिन मैं यह नौकरी बजाता रहा। मुझे यह नौकरी भा गई थी। क्योंकि बाकी और जूठन ही क्यों ना हो, खाना भरपेट मिल रहा था। पर ढोरों को चराने के बाद उसका गोबर-पानी भी करना पड़ता था। काफी दूर से चारा लाना पड़ता था और उसे बांधकर रखना पड़ता था। इतनी कड़ी मेहनत के बावजूद भी वे लोग (सवर्ण) मुझे खाना कहाँ परोसते थे- बता दूँ आपको? उनके बच्चे जहाँ पेशाब और शौच करते थे- वहाँ मुझे यह सब बहुत खटकता था। पर मजबूरी थी। मैं चुपचाप उस अपमान को सहन कर लेता था।"[30] दलितों के साथ एक सामान्य प्रक्रिया यह रही है कि सवर्ण अपने व्यक्तिगत कार्य सारे कराते हैं। लेकिन जैसे ही उनके कार्य हो जाते हैं। दलितों से छुआछूत करते हैं, उन्हें उनके अधिकारों से वंचित कर देते हैं। भोजन उनका अधिकार है, लेकिन काम कराने के बाद समुचित भोजन न मिलना शोषण है।

मराठी दलित आत्मकथा दलित समाज की जीवन स्थितियाँ हिंदी आत्मकथाकरों के समान ही हैं। शरणकुमार लिंबाले अपनी आत्मकथा अक्करमासी में लिखते हैं कि महार नया वर्ष आने पर अपने-अपने काम बाँट लेते हैं। उन्हें स्थानीय भाषा में पाडेवार (अछूतों का काम) कहा जाता था। "चार परिवारों को कई काम करने पड़ते। महारों की बस्ती की बैठक को लीपना, वहाँ दीया-बत्ती करना। सवर्णों के यहाँ कोई जानवर मर गया हो तो उसे भी खींचकर लाना, काटना, चमड़ा उतरना उसे बेचना। जिनके घर पर जानवर मरता, वे दो किलो ज्वार देते। उस ज्वार को भी चारों में समान रुप में बँटाना पड़ता था।"[31] जब तक दलितों के अंदर खुद से अस्तित्व बोध का अधिकार नहीं उत्पन्न होगा,

तब तक उन्हें यह कार्य बुरा नहीं लगेगा। ह-या का अस्तित्वबोध एक लड़की को देखकर जगा, क्योंकि वह उसे पसंद करते थे। "एक बार गाँव में किसी का बछड़ा मर गया। ह-या उसे उठाने गया। उस वर्ष ह-या के परिवार को 'पड़' का हक मिला था। ह-या कंधे पर बछड़ा लेकर निकला। रास्ते में शोभी गुजर रही थी। उसे देख ह-या बहुत शरमा गया। शोभी ने नाक पर रूमाल रख लिया। ह-या चिढ गया अपने आप पर। कंधे पर लटके बछड़े को रास्ते में ही फेंककर उन्नत मस्तक से निकल जाने की उसकी इच्छा हुई। उसे लगा, यह भी कोई जिंदगी है! मृत जानवरों को उठाओ, उसे काटो, खाओ। छि:! ह-या को पहली बार अपने अस्तित्व का एहसास हुआ। ऐसे गंदे कामों के प्रति पहली बार उसे तिरस्कार महसूस हुआ।"[32]

बेबी कांबले अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि मराठी महिलाएँ पुरुषों के साथ काम-धंधे में लगी रहती हैं। परिवार चलाने में उनका सहयोग करती हैं। कभी-कभी यह औरतें बिना पुरुषों के भी अपने पूरे परिवार को चलाने के लिए मेहनत-मजदूरी किया करती हैं। 'जीवन हमारा' में महिलाएँ जंगल से लकड़ी काटकर लाती है, और सिर पर रखकर पूरे गाँव में बेचती हैं। "ये औरतें लकड़ी के गट्ठर लेकर ग्वालों, बुनकरों, प्रजापतियों, तेली-तम्बोलियों के मोहल्ले में घूम-घूमकर ब्राह्मणों के मोहल्ले में आतीं। ज्यादातर लकड़ियाँ ब्राह्मणों मोहल्ले में ही बिकती थीं। डोम की परछाई तक अपने घर में ना पड़े, इसलिए ब्राह्मणों का आँगन छाती जितना ऊँचा होता। आँगन ऊँचा होने की वजह से डोम उनके दरवाजे तक नहीं आ पाते। आँगन के बाहर खड़े होकर ही दो डोम औरतें पूछा करतीं- 'माई, डोमनी लकड़ी लाई है बेचने को।'"[33]

उचक्का आत्मकथा लक्ष्मण गायकवाड अपने समाज के लोगों के आजीविका चलाने के साधनों के विषय में बताया है कि उन्हें कोई भी काम नहीं दिया जाता था। उनके समाज के लोगों को चोरी करने प्रेषित प्रेरित किया जाता था। "पुलिस जब भी आती बिना किसी वजह चोरी का आरोप लगाती। न मोल- मजदूरी मिलती, न कोई काम हमें मिलता। उल्टे पुलिस को पैसे देने पड़ते। इस तरह चोरी करने के हालात पुलिस तैयार करती। साहूकारों से कर्ज लो, पुलिस को दो और कर्ज वापिस

करने के लिए चोरी करते रहो। इस दुश्चक्र से हमें कब मुक्ति मिलेगी? दादा अण्णा, भाऊ केवल इसी कारण चोरी करते थे। इन तीनों के बीच मेरी माँ की हालत बहुत विचित्र हो जाती। उठाईगीरी की जाति में जन्मा हूँ और दादा, अण्णा का छोटा भाई हूँ, इसलिए पुलिस मुझे भी पीटती थी। निरपराधी माँ भी इसी कारण पीटी जाती है। ऐसी स्थिति में स्कूल जाने पर बच्चे शोर मचाते, "चोर आया रे, चोर!""[34] लक्ष्मण गायकवाड बताते हैं कि किसी भी प्रकार की जमीन न होने पर वह खेती भी नहीं कर सकते थे। चोरी का इल्जाम पूरे समाज पर लगता था इसलिए कोई भी इन्हें अपने यहाँ काम पर नहीं रखता था। इनके सामने चोरी के अलावा कोई भी रास्ता नहीं बसता, शिक्षा को लेकर इनके समाज में जागरूकता बहुत कम थी इसलिए लोग शिक्षित भी नहीं थे। परिवार और घर चलाने में बहुत ही दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। "भाभियाँ मुझसे जलती थीं। वे मुझसे ऊबने लगीं। कहती, "पढ़ाई और पोथी-भजन में क्या रखा है? या तो चोरी करनी चाहिए या कोई मजबूरी। या तो पढ़ाई के लिए जाता है। कहीं यह मास्टर तो नहीं होने वाला।" भाभी रोज सबेरे खिचड़ी पकातीं। अनाज के दानों को कूटते समय कुछ आटा निकलता था। स्कूल जाते समय उसे आटे की रोटी बनाकर मुझे देती। अर्थात कभी-कभार ही। कभी कहती कि आज रोटी नहीं बन सकी है। खिचड़ी खाकर जाओ और साथ में खिचड़ी लेकर जाओ। भाइयों को अगर यह सब कहता तो बाद में वे मुझे पीटतीं। खाना ठीक से न परोसतीं। कई बार तो खाना ही नहीं देतीं। भाभियाँ आपने-अपने पतियों की फिक्र करतीं, उन्हें ठीक से परोसतीं। हरचंदा कभी-कभार चोरी करने जाता, साड़ियाँ या तेल के डिब्बे ले आता, तो उसकी ओर भी ठीक से देखतीं।"[35] दलित समाज में आर्थिक समस्याएँ हमेशा से रही हैं। उसका सीधा का प्रभाव उनके भोजन पर पड़ता है। वह रोज मजदूरी करते हैं और मजदूरी करने के बाद खाना मिलता है। लेकिन यहाँ पर मजदूरी तो नहीं मिलती तो चोरी को अपना व्यवसाय बना लिए हैं। लेखक पढ़ना-लिखना चाहता है जिससे उसके परिवार के लोग उससे नाखुश हैं। यह भी चोरी करे या मेहनत मजदूरी करे जिससे घर में दो पैसा आए जिससे घर की आर्थिक स्थिति ठीक हो सके। उसी के कारण लेखक को अपने परिवार में उपेक्षित किया जाता है। उचक्का आत्मकथा में दलित समाज की बहुत ही

दु:खद स्थितियों को मिलाती है, जिसमें उनके पास खाने के लिए कुछ भी नहीं है लेकिन फिर भी पुलिस आती है, उनके घर के सामान को उठाकर ले जाती है। "लातूर के निकट पारधियों का एक तंबू था। हीराबाई काले नामक एक पारधी स्त्री की प्रसूति हुई थी। प्रसूति के बाद घर पर खाने के लिए कुछ नहीं था। चोरी के आरोप में पति जेल में था। हीराबाई काफी परेशान हो गई। दो दिन उसने पानी पर निकाले। अंतत: मजबूर होकर उसने अपने परिवार- नियोजन का ऑपरेशन करा लिया। ऑपरेशन से दो सौ रूपये मिले। उससे उसने आधा थैला जवार खरीद लिया। उसी समय पड़ोस के एक किसान की जवार की फसल चोरों ने काट ली। पुलिसवालों के पास उसने शिकायत दर्ज की। पुलिसवालों को चोर का पता नहीं लग रहा था। जब पुलिस को गुनाहगारो का पता नहीं चलता, तो वे सीधे पारधियों की बस्ती में जाते हैं। वहाँ 'टाकमुद्या' कर किसी को भी पकड़ लेते हैं। अपनी इस आदत के अनुसार उन्होंने पारधियों की तलाशी लेनी शुरू की। तब उस औरत की पाल में उन्हें जवार का आधा थैला मिला। पुलिस पूछने लगी कि तेरे घर में जवार का यह आधा थैला कहाँ से आया। तब हीराबाई गिडगिडाने हुए कहने लगी, "साहब, जब प्रसूति हुई तब खाने के लिए कुछ नहीं था, आपकी कृपा से पति जेल में है। इस कारण मजबूरी में मैंने बच्चा न होने वाला ऑपरेशन करा लिया। वहाँ से दो सौ रूपये मिले। उसी से मैंने ज्वारी का आधा थैला खरीद लिया। साहब, मेरी छाती में दूध नहीं आ रहा था, इसलिए मैंने यह जवार खरीद ली।""[36] प्रसूति अपने ऑपरेशन का प्रमाण पत्र भी पुलिस को दिखाती है, लेकिन पुलिस यह मानने को तैयार नहीं है। वह उसे चोर साबित करती है, उसका आधा थैला जवार ले कर चली जाती है। अंग्रेज सरकार ने इन जनजातियों को जन्मजात अपराधी की सूची में डाल दिया था और इन पर चोरी का इल्जाम लगा दिया था। भारत सरकार के लोगों का रुख जनजातियों पर अंग्रेजों जैसा ही है।

उर्मिला पवार बताती हैं कि जब भी कोई तीज-त्यौहार या पर्व होता था तो दलित सवर्णों के यहाँ खाना माँगने जाती थी। जिससे वे भी त्यौहार मना सकें। यह सामाजिक व्यवस्था थी कि त्यौहार के पकवान माँगने उन्हीं के घर जाया करते थे जिसके घर काम करते, सेवा करते हैं। "रात के जागरण

के बाद स्त्रियों में गजब का उत्साह होता था। सबको जल्दी पड़ी होती कि घर जाकर जल्दी-जल्दी भाकरी बनाकर ब्राह्मणों और मराठों के घर त्योहार के पकवान माँगने जायें। साल भर सब ने गाँव की खूब सेवा की होती, सो आज सेवा के बदले कुछ पाने का दिन था। कोई कहती कि पिछले साल उस अमुक-अमुक के मिर्ची के पौधों को मैंने बबूल की बाड बना दी थी और उस राँड ने मुझे धेला भी नहीं दिया था पर आज मैं उसे छोडूँगी नहीं। अच्छा दो-तीन दिन के लिए खाना माँग कर लाऊँगी...। बाकी सभी का यही हाल होता था। कोई मेहनत-मजदूरी कर के बिना मुआवजा पाये बैठा होता था। इसके अलावा महारों के खास काम जैसे, ढोल बजाना, संदेशा पहुँचाना, मरे जानवर उठाना, आदि काम करने वाले तो पूरे अधिकार से माँगते थे।"[37] दलित समाज जिनके यहाँ काम करते उसके एवज में वह त्यौहार के अगले दिन खाना माँगने जाते। कभी-कभी सवर्ण उनका अनादर भी करते है और पिछले साल उन्हें कुछ भी नहीं दिया थे। फिर भी वे उनके घर जाते हैं और माँग कर लाते। आत्मकथा में महिलाओं की स्थिति के विषय में भी उर्मिला पवार ने लिखा है, विधवा स्त्री के गर्भ धारण कर लेने के पश्चात पंचायत का फैसला ही मान्य होता और उसे शारीरिक यातनायें भी दी जाती। "उन दिनों की बात है जब मैं नौवीं-दसवीं में पढ़ती थी। गाँव की औरतों से सुना था की एक विधवा के पाँव भारी हो गए थे। सब जानते थे कि गर्भ किस से है। गाँव द्वारा उसे आदेश दिया गया कि वह गर्भ गिरा दे लेकिन वह नहीं मानी। इस पर नौ गाँव के 'महाल' में उसका फैसला किया गया और 'महाल' की सजा के मुताबिक उसे औंधें खड़ा कर अन्य स्त्रियों के द्वारा उसके पार्श्व पर लातें लगवायी गयी। इस प्रक्रिया में जब उसका गर्भपात हुआ तभी गाँव के लोगों के सम्मान की रक्षा हो सकी, उन्हें उसकी मर्दानगी का सबूत मिल सका।

एक दूसरी गर्भवती स्त्री, अपने पति को दूसरी औरत से नाजायज संबंधों की शिकायत करने जब पंचों के पास गयी तब उसे भी यही सजा दी गयी थी। बाकी स्त्रियों के ने बड़े ताव में आकर उसके ऐसी लातें जमायी कि उसका आठ माह का गर्भ पेट में ही मर गया और सात-आठ दिन बाद वह स्त्री भी मर गयी। सचमुच यह कैसी विडंबना है कि इंसानियत की हत्या करने वाले इन इज्जतदार जीवों के

बीच औरत के जिस्म में ही पलते हैं और बड़े होकर, इज्जतदार बनकर, उसी को का फैसला करते हैं, जिसने अपना रक्त देकर उन्हें पाला था।"[38] दलित समाज में जहाँ पुनर्विवाह, विधवा विवाह देखते हैं वहीं पर उनके द्वारा पंचायत के फैसलों में स्त्रियों को प्रताड़ित किया जाता है, इसके भी रूप दिखाई पड़ते हैं। महिलाओं की स्थिति कमोवेश दलित समाज में बहुत दयनीय हैं। उन पर समाज, पति और उनके परिवार के द्वारा दोहरा शोषण किया जाता रहा है। दलित पुरुषों के साथ सामाजिक शोषण ही देखने को मिलता है। दलित समाज में दलित पुरुष भी पितृसत्तात्मक सत्ता की तरह ही व्यवहार करता हैं, वह अपनी पत्नी के साथ सामंतवादी जैसा ही व्यवहार करते हैं। "जयराम पेट पकड़कर कुएँ के पास इधर-उधर ताककर 'अरे बाप रे' कहकर चिल्ला रहा था। वह कुछ भी काम-धंधा नहीं करता था और अपनी औरत रामकुँवर की कमाई पर ही जी रहा था। उसकी औरत मिल में काम करती थी और उसे एक बिल्लू नाम की छोटी लड़की थी। जयराम सारा दिन जुआ खेलता था। पत्नी के घर आने से पहले पेट पकड़ कर बैठ जाता था और बहाना करता कि पेट में बहुत दर्द हो रहा है। कुएँ पर जाकर कहता कि दर्द सहन नहीं होता, कुएँ में कूदकर मरेगा। लोग उसको पकड़कर घर लाते। वह बीच-बीच में रोते-रोते कुएँ की तरफ भागता था। बाद में लोगों ने उसको घर छोड़ दिया। तब वह घर में ही चीखता-चिल्लाता था। कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता था। वह ज्यादातर नाटक ही करता था। पगार मिलने के दिन मिल के फाटक के पास खड़ा रहता और अपनी बीवी के आधे पैसे झपट कर छीन लेता था। उस पैसे को जुए और शराब में उड़ा देता था। रामकुँवर चुपचाप सह लेती थी।"[39] जयराम के ऐसा बर्ताव करने के कारण उसकी पत्नी रामकुँवर किसी एक अन्य मिल के कर्मचारी से प्रेम करने लगती है। उसकी पत्नी आकर रामकुँवर को बहुत भद्दी भद्दी गालियाँ देती हैं। रामकुँवर बाद में कहती है कि तुम अपने पति को जाकर यह बात क्यों नहीं करती हो जबकि तुम्हारा पति भी तो मुझसे इश्क करता है। इस पर वह महिला कहती है कि मैं देख लूँगी। अगर तुम्हारा पति दूसरे से प्रेम करता है तो तुम अपने पति को क्या कहती हो? इस पूरी घटना से यह दिखता है कि भारतीय समाज का दोहरा शोषण है वह महिलाओं को अपना शिकार बना रहा है। दलित के साथ-साथ पितृसत्तात्मक समाज उससे

इनका शोषण अधिक हो रहा है। लक्ष्मण गायकवाड की उचक्का आत्मकथा में बच्चों की खरीदारी के भी प्रसंग मिलते हैं, एक धोबी जिसकी पत्नी उसे छोड़ कर चली जाती है और दो बच्चे रह जाते हैं तो अपने दोनों बच्चों को बेच देता है। यह घटना उठाईगीरी समाज में सामान्य है। लक्ष्मण गायकवाड ने अपने समाज के विषय में लिखा है कि "इसी कारण कई बार मैं सोचता हूँ कि स्वतंत्रता के 40 वर्षों के बाद भी हमारे लोगों को पेट-भर खाना नहीं मिलता, हाथों को काम नहीं दिया जाता, तन के लिए कपड़ा नहीं मिलता, इस कारण यह लोग अपने बच्चों को बेचकर अपनी जरूरतें पूरी कर लेते हैं। अगर स्वाभिमान से जीना असंभव हो रहा हो तो इस स्वतंत्रता का उपयोग ही क्या है? आगे ऐसा ना हो, इसलिए कुछ करने-धरने के विचार मन में आते हैं। अपनी बिरादरी में मैं जब भी जाता हूँ और ऐसी घटनाओं का मुझे पता चल जाता है, तब मैं परेशान हो जाता हूँ। अपने समाज का यह चित्र देखकर ही मैं 'पाथरूट समाज संगठन' की ओर से शिक्षण संस्थान खोलने की कोशिश करने लगा। अनेक दिशाओं से प्रयत्न करने के बाद 1979 में कवठा में विमुक्त जनजातियों की शिक्षा संस्था को रजिस्ट्रेशन मिल गया। सोचा कि अपने समाज के कुछ बच्चों को ही उठाईगीरी से बचा सकूँगा। उस्मानाबाद शहर में छात्रावास की मान्यता मिले, इसके लिए समाज-कल्याण विभाग में मैंने अर्जी भिजवा दी।"[40]

भारतीय समाज में सभी धर्म और जाति के लोग निवास करते हैं। उनकी अपनी मान्यताएँ, परंपराएँ है। दलित आत्मकथा में जाति एवं धर्म के आधार पर विषमता फैली थी, उसका उजागर इन आत्मकथाओं में किया गया। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे में बताते हैं कि उनके बाबा ने उन्हें बताया कि वह न मुस्लिम है न हिंदू वह चमार है। "अब मेरा सवाल था- "बा, यह मुसलमानों को क्यों मारते हैं?" "क्योंकि वह हिंदू हैं।" बा का उत्तर था। "और हम कौन हैं?" मेरा अगला सवाल था। "हम चमार हैं।" बा बोला। "पर क्या चमार हिंदू नहीं होते?" मैंने फिर पूछा था। बा ने जवाब देने से पूर्व पलभर मेरी ओर देखा था, फिर कहा-"चमार चमार होते हैं। न हिंदू न मुसलमान।""[41] नैमिशराय का परिवार मेरठ में निवास करता था उसके बगल में मुस्लिम समुदाय के

लोग रहते थे। दंगा होने पर मुसलमान हिंदू को मारते थे और हिंदू मुसलमानों को। एक बार इनके यहाँ दंगा हुआ, तो दंगे के उपरांत जब यह स्कूल गए। तो अध्यापक एक दूसरे से बात करते हैं कि तुमने कितनों को मारा। उसी के संदर्भ में अपने बा से यह सवाल पूछते हैं उन्हें यह पता चलता है कि दलित न हिंदू होता है न मुसलमान होता है। अपनी आत्मकथा में आगे बताते हैं कि एक बार वह अपने भैया के साथ रिश्तेदार के यहाँ जा रहे थे। उनको रास्ते में प्यास लग गई। पानी के लिए एक घर पर पूछा, तो भैया ने अपने गंतव्य स्थान का नाम एवं व्यक्ति का नाम बताया। तो उन्होंने चमार जाति जानते ही डांटते हुए कहा ‘‘‘तो म्हारे घर अग्गे कियों खड़े हो? जाओ सीद्दे-सीद्दे, आगे चमारों के ही घर पड़ेंगें पैले।’’ पहले वे साँप की तरफ फुँफकारे थे। ‘‘हमें पानी पिला दो, बड़ी प्यास लगी है।’’ भैया के स्वर में गिड़गिड़ाहट के भाव थे। ‘‘म्हारे घर चमारों की खातिर पानी ना है।’’ उन्होंने इंकार कर दिया था। उनके मना करने पर प्यासे मेरा गला और भी खुश्क हो चला था। आँखों में गर्मी और धूल-मिट्टी के कारण चिरमिराहट-सी लगने लगी थी। मुझे जैसे किसी ने रेगिस्तान के बीच में लाकर पटक दिया था। ‘‘आगे झोड़ है, वईं मिल जागा पानी-वानी तमै।’’ हमारी तरफ से हिकारत से देखते हुए कहा था उन्होंने।’’[42] दलितों को पानी पिलाने के नाम पर उनको पानी नहीं दिया जाता था और तालाबों का गंदा पानी पीने के लिए विवश किया जाता था। जिसको पीकर लोग बीमार भी पडते थे। उन तालाबों में देखेंगे तो ग्रामीण के जानवर भी रहते हैं। वही का पानी पीते हैं दलितों की स्थिति भी जानवरों से बदत्तर दिखाई देती है। मोहनदास नैमिशराय अपनी इंटरमीडिएट की परीक्षा पास कर लेने के बाद होमगार्ड ऑफिस शिविर में जाकर रहने लगते हैं। वहाँ पर जाति के आधार पर रसोईये द्वारा अपमानित किये जाने की पूरी घटना विस्तार पूर्वक बताते हैं। ‘‘शिविर में पहले ही दिन एक घटना हो गयी। हम दो-तीन साथी रसोई में चले गये। और वहाँ क्या बना था, कैसा बना था, इसकी जाँच-पड़ताल करने लगे। बनी हुई सब्जी के वहाँ बड़े-बड़े बर्तन रखे थे। दो आदमी रोटियाँ बेल रहे थे और एक आदमी चूल्हे पर वहीं रोटियाँ सेंक रहा था। मैंने एक टब को उघाड़ कर जैसे ही भीतर रखी सब्जी देखनी चाही रसोइए ने इसका एतराज उठाते हुए गुस्से में कह दिया, ‘‘न जाने तुम लोग कहाँ से आए हो, कौन हो। सब्जी का

बर्तन ही छू दिया।" हमें भी गुस्सा आ गया। हमने लगभग चिल्लाते हुए कहा, "हम चमार हैं और इसी शहर से ही आए है।" "तब तो और भी गड़बड़ हो गया।" रसोईया उफनाते हुए बोला। "क्या गड़बड़ हो गया?" हमने भी उफनते हुए पूछा। "यही की सब्जी खराब हो गयी।" वह तत्काल बोला। "कैसे खराब हो गयी?" हमारे स्वर गर्म थे। "राम, राम, राम..., सब कुछ भरस्ट हो गया। हमें क्या मालूम था कि....।" उसकी बात बीच में ही रह गई थी। जब हमने जोरदार आवाज में पूछा, "क्या बोला....।""[43] जब लेखक ने इसका विरोध दर्ज कराया, तो वहाँ के सुपरवाइजर आते हैं और छात्रों के विरोध के बाद उस रसोईये को वहाँ से बाहर कर देते हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में तो दलितों के छूने मात्र से ही कैसे कोई वस्तु या भोजन खराब हो सकते हैं, लेकिन यह मान्यताएँ चली आ रही थी कि दलित समाज का कोई भी व्यक्ति अगर छू लेता है या स्पर्श कर लेता है तो वह खराब हो जाएगी या अपवित्र हो जाती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन अपनी चूहड़ जाति के विषय में बताते है। एक बार अपने अध्यापक के यहाँ जाते हैं और आने के लिए अध्यापक आमंत्रित करते जाता है तो वह आ जाते हैं। खाना खाने के बाद एक वृद्ध व्यक्ति उनसे पूछता है कि "व्यक्ति ने हम दोनों के विषय में बुजुर्ग से पूछताछ शुरू कर दी। बरला से आए हैं, सुनते ही उसने सवाल दागा था, "कौन जात है?" उसके सवाल का उत्तर दिया मैंने, "चूहड जात है।" उन दोनों के मुँह से एक साथ निकला था, "चूहड़ा?" बुजुर्ग ने चारपाई के नीचे पड़ी लाठी उठाकर तड़ से मार दी थी, भिक्खूराम की पीठ पर। हाथ तगड़ा था। भिक्खूराम बिलबिला गया था। बुजुर्ग के मुँह से अश्लील गालियों की बौछार होने लगी थी। आँखें भयानक लग रही थीं। दुबले-पतले शरीर में शैतान उतर आया था। उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने, चारपाई पर बैठने का दु:साहस किया था, जो उसकी नजर में अपराध था। मैं सहमा हुआ चबूतरे से नीचे खड़ा था। बुजुर्ग चिल्ला रहा था। जिसे सुनकर भीड़ जमा हो गई थी। कई लोगों की राय थी। रस्सी से बांधकर दोनों को पेड़ से लटका दो।"[44] भारतीय समाज के अतिथि सत्कार की कलई खुल गई। दलित समाज को सेवा सत्कार पाने का अधिकार ही कहा था।

किसी तरह वह लोग वहाँ से बचकर जाते है। अस्पृश्यता का ऐसा माहौल है कि गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली छू जाने या घर में आ जाने पर कोई दिक्कत नहीं होती लेकिन अगर वही दलित व्यक्ति उनके घर में आ जाता है तो सब कुछ अपवित्र हो हो जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अंदर शिक्षा के प्रसार के बाद से विद्रोह या विरोध के स्वर भी जन्म लेने शुरू हो गए थे। वह अपने गाँव के ही फौज सिंह त्यागी के यहाँ काम करने जाते हैं। काम के उपरांत उन्हें रोटी खाने के लिए बुलाया जाता है। "उनके आवाज देने से, मैं उनके पास आ गया था। उन्होंने रोटियाँ मेरे हाथ पर बहुत ऊपर से छोड़ी थीं। कहीं उनका हाथ मेरे हाथ छू न जाए। यह तरीका मेरे लिए अपमानजनक था। मैंने वे रोटियाँ उनके सामने फेंक दीं और घर की ओर दौड़ पड़ा। फौजा मुझे मारने दौड़ा था। लेकिन पकड़ नहीं पाया।"[45] इस घटना का पता जब गाँव में चला। तो गाँव वालों ने भी बेगार करने से मना कर दिया। एक बदलाव की पहली किरण थी। ओमप्रकाश वाल्मीकि जब ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में जाते हैं तो उस समय की सामाजिक घटना देखने को मिलती है। मराठी ब्राम्हण वह भी पूना के ब्राह्मण महारों को अपने बर्तन छूने नहीं देते। कुलकर्णी परिवार में वह अपने मित्र सुदामा पाटिल के साथ जाते हैं तो उन्हें पढ़े-लिखे व्यक्तियों के सामाजिक भेदभाव का पता चलता है। "कल याद उन्हें पता चल जाए..., तो....? मैंने शंका व्यक्त की। "तो दोषी तुम कैसे हो गए? ...उन्होंने भी तो पूछा नहीं... तो हम अपने ओर से ढिंढोरा पीटें? हाँ, यदि वे पूछते और तुम झूठ बोलकर उनके दायरे में शामिल हो जाते तब तुम्हारा दोष माना जा सकता था.... वह भी झूठ बोलने का।" पाटिल ने दृढ़ता से कहा।"[46] वाल्मीकि सरनेम होने के कारण महाराष्ट्र में मुझे ब्राम्हण समझा जाता था इसलिए ब्राह्मण परिवार अपने यहाँ खाने-पीने में बुलाता था। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने जाति को नहीं बताते थे क्योंकि कोई पूछता भी नहीं थे। लेकिन बाद में ओमप्रकाश वाल्मीकि की जाति पता होने पर उन्होंने इनसे संबंध खत्म कर लिया। वाल्मीकि जब नौकरी प्राप्त कर लेते हैं तो वह कमरे के लिए इधर-उधर भटकते हैं, उन्हें कमरा नहीं मिलता है। अपने मित्र अनिल के साथ कई जगह कमरे के लिए जाते हैं। उन्हें यह उत्तर मिलता है कि हम किसी दलित और मुसलमान को घर नहीं देते हैं। अनिल इन बात से गुस्सा हो जाता, तो वाल्मीकि

उसे शांत रहने के लिए कहते हैं। "अनिल, इन सवालों को आप लोग आप सुन रहे हैं लेकिन भाई, हम तो पैदा होते ही इसे सिर्फ सुनते ही नहीं इनकी ज्यादतियों को भी सहन करते हैं क्योंकि इनको यह सब घुट्टी में पिलाकर बड़ा किया गया है, ये सब देवभूमि के देव-पुत्र हैं, भला मनुष्यों की इनके मन में क्या इज्जत होगी। इसलिए शांत रहो, समय बदलेगा, तुम्हारे जैसे लोग भी तो हैं इसी देश में, जो एक वाल्मीकि के लिए दर-दर भटक रहे हैं। मुझे उनकी जरूरत नहीं है। मुझे तुम जैसे लोगों की जरूरत है जो मेरे अपमान को अपना अपमान समझते हैं।"[47] निम्न वर्ग का कोई भी व्यक्ति अगर शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद नौकरी के लिए निकलता है तो उसके सामने सबसे बड़ी समस्या रहने की आती है। दलितों को कोई कमरा देने के लिए तैयार नहीं होता है। हाँ, कुछ लोग अनिल भारद्वाज जैसे भी हैं जो उनका सहयोग करते हैं। कमरा दिलाने और सारी वस्तुस्थिति को ठीक करने में मददकरते है। लेकिन अनिल भारद्वाज जैसे लोगों की संख्या अभी भी समाज में बहुत कम है। तुलसीराम अपनी आत्मकथा मणिकर्णिका में भी बी.एच.यू. में पढ़ने के दौरान कमरे को लेकर दिक्कतों का सामना करते हैं। उसी समस्याओं का उल्लेख करते हैं। "गौरीगंज में भी एक अन्य मकान में एक बड़ा कमरा दस रुपए मासिक किराए पर लिया। उन दिनों दलितों को गैरदलित लोग किराए पर बनारस में मकान नहीं देते थे। अत: जो भी दलित किराए पर कमरा लेते थे, वे अपनी जाति छिपा देते थे। गौरीगंज में जो कमरा हमें मिला, उसे मुन्नी लाल ने तय किया था। मकान मालकिन थी राजवंती चाची, जो जाति से तेली थी, किंतु भेदभाव में उनके सामने कट्टर ब्राह्मण भी कहीं नहीं ठहरते थे। राजवंती चाची ने हम लोगों की जाति शुरू में ही पूछ ली थी। मुन्नी लाल ने उसे बताया था कि वह स्वयं कायस्थ हैं और मेरे बारे में कहा था कि मैं उत्तरकाशी का तुलसीराम शर्मा यानी ब्राम्हण हूँ। हम दोनों उस कमरे में रहने लगे। तपसीराम एक महीने बाद आने वाले थे। राजवंती चाची मांस मछली आदि पकाने पर भी पाबंदी लगा चुकी थी। अभी महीना भर बीता नहीं था कि एक दिन मेरे एक नए सपाठी मिर्जापुर निवासी राम जनम जो दलित ही थे, हम लोगों से मिलने उस मकान में आए। हम लोग मकान पर नहीं थे। राजवंशी चाची ने उनकी जाति पूछ ली। राम जनम ने ईमानदारी से बता दिया कि वह चमार हैं। फिर चाची ने मुन्नी

लाल और मेरी जाति बताने के लिए उनसे कहा। उन्होंने एक बार फिर ईमानदारी से काम लिया।"[48] जाति जानने के बाद राजवंती चाची ने उन्हें घर से निकाल दिया और बुरा भला भी कहा। ऐसी घटनाएँ दलित समाज के साथ हमेशा होती रही है। उस समय लिखने-पढ़ने या काम करने के लिए शहरी क्षेत्र में आया करते थे। शहर में पढ़ने या काम करने के लिए लोग इधर-उधर कमरा ढूंढना उनके लिए ज्यादा कष्टकारी होता था। क्योंकि उन्हें बार-बार यह आभास कराया जाता था कि आप निम्न जाति के हैं। आपका समाज में कोई अधिकार नहीं है। तुलसीराम ने आगे लिखा है कि "इस तरह जुलाई 1966 से जुलाई 1967 तक का एक साल बड़े दुर्दिनों में बीता। जातिगत यथार्थ के कारण बार-बार नए कमरे की तलाश में मैं दोहरा जीवन जीने लगा था। मैं विश्वविद्यालय में दलित होता था और शहर के कमरे में आते ही 'शर्मा जी' बन जाता था। हर रोज जातीय परिवर्तन मुझे बहुत खटकने लगा। भदैनी के जिस मकान में भारत नाथ शुक्ला जी के साथ में रहता था, उस मकान का मालिक एक साधु था। शुक्ला जी बताते थे कि साधु बनिया गुप्ता है, किंतु दाढ़ी बढ़ाकर मकान पर कब्जा कर लिया है और किराये की कमाई पर जिंदा है जबकि पूजा पाठ से उसका कोई मतलब नहीं है। हकीकत भी यही थी, उन्हें मैंने कभी पूजा करते या मंदिर जाते नहीं देखा। साधु बाबा भी किसी दलित को मकान किराए पर नहीं देते थे। शुक्ला जी बार-बार मुझे 'शर्मा जी' बने रहने की सलाह देते रहते थे। शुक्ला जी हद से ज्यादा जातिवाद के विरोधी थे, इसलिए बी.एच.यू. में उनके अधिकतर दोस्त दलित ही हुआ करते थे।"[49] तुलसीराम और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने शहरी में जातिगत विवेचना की है। वह एक जैसी दिखाई देती है। शहरों के कुछ व्यक्ति हैं जो इस जातिवाद को खत्म करना चाहते हैं, लेकिन अभी सामाजिक चेतना के रूप समाज में व्याप्त नहीं है। एक व्यक्ति के रूप में यह जो पढ़े-लिखे शिक्षित व्यक्ति हैं, उन्हीं व्यक्तियों में यह चेतना जागृत हो रही है। तुलसीराम उस समय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता के रूप में विश्वविद्यालय में जाने जाते थे, इसलिए उन्हें जगजीवन राम भी कहके बुलाया जाता था। यह एक जातिवादी मानसिकता का द्योतक है। गोरखनाथ पांडे से तुलसीराम की अच्छी मित्रता थी, एक बार तुलसीराम की जाति मकान-मालिक को पता चल जाता है, तो मंदिर के लोगों ने

नहीं दौड़ा लिए तो गोरखनाथ पांडे ने ही इन्हें बचाया था। मंदिर के पुजारियों को बहुत बुरा भला कहा था। इसके बाद वह भी वहाँ से कमरा छोड़कर दूसरे मठ में चले गए थे। जहाँ केवल ब्राह्मणों को रहने के लिए दिया जाता था लेकिन खासियत यह थी कि अन्य जातियों को मना भी नहीं किया जाता था।

दलित समाज ने इस जातिगत व्यवस्था को अपना भाग्य ही समझ लिया था। जाति के आधार पर उनको काम दिए गए थे। वह उन्हें अपना काम समझते थे। जिसका उदाहरण 'शिकंजे का दर्द' सुशीला टैगोर की आत्मकथा में देखने को मिलता है। "नानी की जिंदगी के दिन बस ऐसे ही कष्ट में बीतते रहे। गालियों और अपमान के भय से डरते-डरते उसे आदत हो गई थी। अपनी इस आदत को उसने अपना कर्तव्य मान लिया था। जाति और कर्म के आधार पर बने इस घेरे को तोड़ना संभव नहीं था क्योंकि विरोध और विद्रोह से परिचित नहीं था। यह चिंगारी हृदय में कभी जागने नहीं दी गई। लेकिन वह हमसे अक्सर कहती थी- "जैसे कृष्ण ने कंस को मारो, जैसे नरसिंह ने हिरनाकश्यप का पेट फाडों, वैसे ही कोई जरूर पैदा होयगो जो जांत-पांत बनाने वालों को ऊँच-नीच की बात बताने वालों को सबक सिखायेगी। वही हमें न्याय दिलायेगो, हमको भी ऊँचे आसन पर बैठायेगो, अपमान की जिंदगी से निकालकर सम्मान दिलायेगो।"[50] दलित समाज इन कामों को अपना भाग्य समझकर करता था। वह आशावादी भी था कि कोई ना कोई जरूर आएगा, जो उन्हें इन कष्टों से दूर करेगा। लेकिन समस्या यह है कि यह भी एक प्रकार से ब्राह्मणवाद की ही विचारधारा दिखाई देती है। सब कुछ समय पर छोड़ देना और व्यक्ति को अपने अधिकार और अपने कर्तव्यों को लेकर सजग न रहना इन आशावादी विचारों में दिखाई देता है।

दलितों को पानी पीने के लिए भी बहुत मशक्कत करनी पड़ती थी। तालाब से पानी पीने के लिए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने आंदोलन भी चला था। दया पवार अछूत आत्मकथा में बताते हैं कि भगवान पर महारों की छाया पड़ जाने पर भगवान भी अपवित्र हो जाते हैं। "पानी लेने के लिए आते-जाते महार स्त्रियों की छाया हनुमान पर पड़ती। भगवान अपवित्र हो जाते हैं, इसलिए गाँववालों ने एक बार रास्ता बंद कर दिया। कुएँ पर यदि दूसरे रास्ते से जाना हो तो तालाब के किनारे-किनारे कीचड़-से

लथपथ होकर जाना पड़ता, एक मील तक। यह रास्ता महारों के लिए खुल जाए, इसलिए महारों ने संघर्ष किया। कोर्ट-कचहरी हुई। 'हम अपनी राह नहीं छोड़ेंगे। यदि आप आवश्यक समझे तो हनुमान की स्थापना दूसरी ओर कीजिए।' इस प्रकार आक्रामक पैंतरा महारों का होता। यह विवाद जब चल रहा था तो एक चमत्कार ही हुआ। इसी दौरान तालुके में एक ईसाई तहसीलदार आया। यह ईसाई तहसीलदार कोई और नहीं, वह पहले का महार ही था। महार लोगों की व्यथा उसने भोगी थी। उसके मन में यह तय किया कि महारों के साथ न्याय होना चाहिए। महार यदि ईसाई हो जाता तो उससे गाँव अपवित्र ना होता और यदि ईसाई आदमी ऑफिसर है तो बात ही निराली। सारा गाँव उसकी सेवा में हाजिर।"[51] दलितों के धर्म परिवर्तन कर लेने के बाद भी उनसे अछूतों जैसा व्यवहार किया जाता था। लेकिन कहीं-कहीं यह व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है। दलितों में मुस्लिम और ईसाई धर्म परिवर्तन इन आत्मकथा में देखने को मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि दलित समाज के केवल साफ कपड़े न पहनना या साफ-सफाई से न रहने के कारण ही उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार होता था। जाति के नाम पर ही उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार किया जाता था। इसका उदाहरण 'यादों के पंछी' आत्मकथा में दिखाई देता है। "धर्मा काले रंग का था और उसके सारे शरीर पर चेचक के गहरे दाग भी थे। काफी साफ-सुथरा रहता था, इसलिए आकर्षक दिखता था। उन दिनों महार-मातंग शरीर या कपड़ों पर साबुन वगैरह नहीं लगाते थे। लेकिन धर्मा साबुन लगाता था शायद, इसी कारण उसके शरीर से सुगंध फूटती थी। सफेद धोती और सफेद शर्ट पहनता था। कभी-कभी नेहरू-शर्ट भी। इसलिए दलित लड़कों में अत्यधिक आकर्षक और विशिष्ट दिखता। बावजूद इतनी साफ-सफाई और स्वच्छता के, सवर्ण उसे दलित ही कहते। वैसे वह ऐसी बातों पर कभी ध्यान ना देता था। साफ-सुथरा रहना, साफ़ कपड़ा पहनना और अच्छा खाना- इसी में वह मगन रहता।"[52]

दलित समाज में पढ़-लिख लेने के बाद भी लोग अपनी जातियाँ छुपाते थे, क्योंकि कहीं न कहीं उनके व्यवसाय एवं उनके रहन-सहन में यह आड़े आती थी। इस कारण इनको अपनी जाति के कारण इन्हें समाज में सम्मान एवं अधिकार नहीं प्राप्त हो पाते थे। ऐसी एक घटना का जिक्र उर्मिला

पवार अपनी आत्मकथा 'आयदान' में करती हैं। "मेरे जीजाजी की वकालत में कहीं ज्यादा लेना आ जाये, इस हेतु से दीदी ने उनका कांबले उपनाम (जातिवाचक उपनाम) बदलकर दाभोलकर रख दिया था। उनकी देखादेखी मैंने भी भिरवंडेकर उपनाम रखने का विचार किया परंतु पवार नाम मराठों में भी चल जाता है इसी विचार से नहीं बदला।"[53]

भारतीय सामाजिक संरचना में ऐसा नहीं है कि दलित जातियों के साथ ही केवल सवर्ण जातियाँ अछूतों जैसा व्यवहार करती थी, बल्कि जो अनुसूचित जातियाँ या दलित जातियाँ हैं उन्हें भी एक तरीके का ब्राह्मणवाद इन सामंतवादी व्यवस्था दिखाई देती है। जिन पर दलित समाज को अपने अन्दर की कमियों को सुधारनें का कदम उठाना होगा। अपने आंतरिक असमानता को भी दूर करना होगा। दलित समाज भी शोषण एवं अस्पृश्यता के लिए अपने से निम्न जाति खोज लेती है, और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करती है जैसा सवर्ण दलितों के साथ करते हैं। इसका उदाहरण दलित समाज में देखने को मिलता है। "दलितों के भीतर ही जाति और उपजातियों की अनगिनत सुरंगें थीं, जो कभी-कभी दलित अस्मिता और पहचान को बाँटती तथा तोड़ती थीं। हालाँकि एक सुरंग से दूसरी सुरंग में जाने के सभी रास्ते बंद थे। जातियों की रचना की प्रक्रिया उलझाव ही अधिक थे। उन्हें सुलझाने वाले कम थे और गाँठें डालने वाले अधिक। हर जाति के अपने-अपने अंतर्द्वंद थे। वैसे अंतर्द्वंद समय-समय पर भरते थे। अलग-अलग जातियों की अलग-अलग पंचायतें थीं पंचों की उठ बैठ अपने ही लोगों तक सीमित थी, पर कभी-कभी किसी विशेष समस्या खड़ी होने पर एक जाति के पंचों/ प्रधानों/ चौधरियों/ प्रमुखों की दूसरी जाति के लोगों से बातचीत हुआ करती थी।"[54] नैमिशराय अपनी आत्मकथा में यह बताते हैं कि दलित समाज में भी अपनी-अपनी जातियाँ और उपजातियाँ हैं। जातियों में भी एक-दूसरे से वैसे ही मतभेद हैं जैसे सवर्ण दलितों के साथ करते हैं। इनकी भी अलग-अलग पंचे, पंचायतें, चौधरी. प्रमुख हैं। जो अन्य जातियों से कोई संपर्क नहीं रखती हैं वे अपने जाति का निर्णय स्वयं करते है। किसी विशेष अवसर पर ही सभी पंचायतों के लोग एक साथ मिलते है। "हमें ब्राह्मणों ने जातियों में बाँटा और समाज के सबसे निचले स्तर पर लाकर अपना उल्लू सीधा किया था।

अभी भी हम एक-दूसरे को अपने से ऊपर-नीचे की जातियों में बाँट कर स्वयं उल्लू बने हुए हैं। जातियों की उन लकीरों को किसने छक्का खींचा, कब खिंचा,क्यों खीचा, इस पर शोध करने और बहस करने में अपना अधिक समय लगाने के आदी हो गए, पर स्वयं के बीच में जो जातिभेद बरकरार थे। इस पर हमसे दो शब्द भी कोई नहीं कहेंगे और न लिखेंगें। इससे अधिक कूपमंडूकता और क्या हो सकती है। मेरे भीतर इस तरह के सवाल उठते थे।"[55] ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा में यह साफ-साफ कहते हैं कि दलित समाज के आतंरिक जातिवाद को सर्वप्रथम ख़त्म करना होगा। जातिवाद तोड़ने के लिए सर्वप्रथम उस पर बात करनी होगी है। दलित समाज अपने बाहरी जातिवाद की तो बात करता है, लेकिन अपने आंतरिक जातिवाद को बनाए रखा है। उसे सर्वप्रथम अपने आंतरिक जातिवाद को तोड़ना होगा। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा में चमार और जाटव के बीच के अंतर को बताते हैं कि जो चमड़े का काम नहीं करते थे वह जाटव हो गया है। और जो अभी भी चमड़े का कार्य करता है वह चमार है। इनमें भी मतभेद दिखाई देता है। "खाल उतारने के बाद पशु का मांस भी निकाला जाता था। हमारे अलावा डोरी ताऊ का लंबा परिवार मुर्दा मवेशियों को खा-खा कर ही पता था। अपनी पसंद का मांस चुन लेने के बाद ही हमें सेर दो सेर मांस देते थे। कई बार घर पर पकने पर डोरी की पत्नी सेमनिया (भूरी) जिसे हम मौसी कहते थे, बेला भर कर रँधा हुआ कलिया दे देती थी। तीसरे, हम दो घरों के अलावा बाकी चमार मुर्दा मवेशी उठाने का काम छोड़ चुके थे। उन्होंने चमार के बजाय अपने आप को जाटव घोषित कर दिया था और हमारा घर छेक दिया गया था। हमारे शादी-विवाह और तीज-त्यौहार के भोज में उनमें से कोई शामिल नहीं होता था। हालाँकि गैर-चमारों के लिए चमार- जाटव दोनों का मतलब एक ही था। गैर-कौम सबको चमार ही कहती थी। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मात्र चमड़े का काम करने के कारण चमार नाम रखा गया होगा। चमार कहलाने वाली अनुसूचित जाति इतनी बड़ी संख्या में शायद दस फ़ीसदी लोग भी चमड़े का काम नहीं करते होंगे।"[56] बेचैन के आस-पास आर्य समाज होने के कारण भी यह छुआछूत कम है लेकिन खत्म नहीं हुए थे। दलित समाज अपनी ही जाति में उपजातियाँ बाँट लेता है, और कुछ को निम्न घोषित करके अपने

सारे तीज-त्यौहार और कार्यों में नहीं बुलाता है। दलित अपने जाति के आधार पर बस्ती में रहते और दलित समाज के अन्य जातियाँ अलग बस्ती में रहती है यह समस्या आज भी गाँव में मिल जायेगी।

यह समस्या हिंदी आत्मकथा में ही नहीं देखने को मिलता है। मराठी दलित आत्मकथा में भी दलित समाज के आंतरिक जातिवाद देखने को मिलते हैं और इनका उल्लेख रचनाकारों ने किया है। "गरमी के दिन थे। मैं तथा मातंग समाज का भीमू- हम दोनों इन दिनों रोज खेलते। उसकी माँ हम दोनों पर स्नेह जतलाती। खेलते हुए एक बार प्यास लगी। इस कारण हम दोनों घर आये। मैं पहले पानी पी गया। भीमू को पानी दे रहा था कि संतामाय चिल्ला उठीं, "अरे, मातंग को साथ लिये क्यों घूम रहा है? उसके साथ क्यों खेल रहा है? गाँव जल गया क्या कि इसके साथ खेलने लगा? उसे लोटा मत दे। अपवित्र हो जाएगा।" और वह भीमू को डाँटते हुए कहने लगीं, "चल, यहाँ से निकल।" भीमू को पानी पीने से मना करने के कारण मुझे काफी बुरा लगा। बिरादरी दोस्ती से भी बड़ी होती है क्या? प्याज से भी बिरादरी बड़ी होती है क्या? भीमू आदमी नहीं है क्या? फिर उसके स्पर्श से पानी अपवित्र कैसे हो जायेगा।"[57] दलित समाज में भी जातिवाद दिखाई देता है। जैसे सवर्ण जातियाँ निम्न जातियों के साथ करते है वैसा ही व्यवहार दलित समाज में अंतरिक जातिवाद के रूप में देखने को मिलता है। सर्वप्रथम दलित समाज को आतंरिक जातिवादी स्वरूप को खत्म करना होगा। इसके बाद समाज से ही जातिवाद को खत्म करने की मुहिम चलानी होगी।

मराठी दलित आत्मकथा अक्करमाशी में दलित समाज का मुसलमानों के साथ संबंध देखने को मिलता है शरणकुमार लिंबाले की दादी संतामाय एक मुसलमान के साथ रहने लगती हैं। दलित समाज का सम्बन्ध मुस्लिम समाज के साथ भी देखने को मिलता है। "मुसलमानों में एक से अधिक विवाहों की अनुमति है। दस्तगीर जमादार की पत्नी का लड़का है दादा। बुहरानपुर की किसी स्त्री से उसका विवाह हुआ था पर संतति नहीं हुई। वह भाग गई। परिणामत: दादा ने पूरी जिंदगी संतामाय के साथ गुजार दी। जाति- बिरादरी के परे जाकर उन्होंने मुझे प्यार दिया। अपने बच्चे की तरह उन्होंने देखभाल की। न धर्म देखा, न जाति-बिरादरी। मनुष्य धर्म को रोकता है अथवा धर्म मनुष्य को? धर्म का

दायरा बड़ा है कि इंसानियत का? मनुष्य के लिए धर्म है कि धर्म के लिए मनुष्य? मनुष्य धर्म को विकृत करता है अथवा धर्म मनुष्य को? धर्म, जाति और बिरादरी को त्यागकर क्या मनुष्य जी नहीं सकता?"[58] शरणकुमार लिंबाले कहते हैं कि कोई भी धर्म, जाति मनुष्य से बड़ा नहीं होता है। उसके केंद्र में मनुष्य ही होता है। मनुष्य की भलाई के लिए ही यह व्यवस्थाएँ बनाई जाती है। फिर इन व्यवस्थाओं को ऐसा क्यों बनाया जाता है कि कुछ जाति-बिरादरी या धर्म के लोग एक दूसरे को मारने-काटने और शोषण करने पर भी उतारू हो जाते हैं। धर्म और जाति व्यक्ति के बेहतर जीवन के लिए है न कि उनके हिंसा, शोषण और अत्याचार करने के लिए। कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा में दलित जातियों के भीतर उपजातियों को बताती हैं। "साखरा बाई के पति कोतवाल थे। पारडी गाँव में उनके पास दस एकड़ जमीन थी और उन्हें ऊपर से भी कुछ आमदनी होती थी। सरकारी तनखा भी मिलती थी इसलिए उन्होंने कुछ रुपए जमा किया था। उनकी बाद में मृत्यु हो गई और साखरा बाई अकेली हो गई थीं साखरा बाई हमारी ही जाति (महार) की थीं परंतु उनकी उपजाति अलग थी। हमारी महार जाति में साड़ेबारा उपजातियाँ थीं। कोसरे, बावने, लाडवन, आधवन, सोमवंशी, बारके, झाड़े बावने वगैरह। सबमें खान-पान हो जाता था परंतु विवाह मात्र अपनी ही उपजाति में होती था उपजातियों में शादी की रस्में भी एक जैसी नहीं थी।"[59] दलित समाज में भी जातियों और उपजातियाँ हैं जिनका सभी लोग पालन करती हैं। शादी-विवाह अन्य मौकों पर जाति एवं उपजातियाँ में रस्में एवं परम्पराओं देखने को मिलाती हैं, जिसका सभी पालन करते है। डॉ. अंबेडकर का पहला मूलमंत्र जाति तोड़ने के लिए था- रोटी और बेटी का संबंध स्थापित करना होगा अगर यह स्थापित नहीं हो पाएगा तो जाति नहीं टूटेगी। जबकि यह मंत्र आज भी दलित समाज ने स्वीकार नहीं किया है। जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ है। न भोजन और न विवाह संबंधित एक दूसरे से किये जा रहे हैं। वह अपनी ही जाति या उपजातियों में शादी विवाह एवं भोजन करते हैं। दलित समाज अपने आप में भी अस्पृश्य है। दलितों के अलावा भी कुछ ऐसी जातियां हैं जो दलितों के लिए अस्पृश्य हैं। दलित उनको अपने यहाँ भोजन और अपने छुआछूत का पालन करते हैं उसका वर्णन 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में

देखने को मिलता है। "माँग जाति के लोगों से महान लोग छुआछूत बरतते थे। उनके हाथ का छुआ पानी और खाना फेंक देते थे। उनकी औरतें दाई का काम करती थीं। जच्चा-बच्चा को तेल मालिश और उनके गंदे कपड़े साफ करती थीं। माँग जाति के आदमी शादी-विवाह और मृत व्यक्ति को श्मशान ले जाते वक्त बाजा बजाने का काम करते थे। पहला बच्चा किसी के घर होने पर भी वे उनके आँगन में जाकर बाजा बजाते थे। वे अस्पृश्यों के घर में भी बाजा बजाते थे। स्पृश्य लोगों के घरों में त्यौहार वगैरह पर आँगन के दूर कोने में बैठकर बाजा बजाते थे। उनकी औरतें फुरसत के समय बाँस की टोकरियाँ, सूप वगैरह बनाकर बेचती थीं।"[60] दलित समाज के साथ आदिवासी समाज भी अस्पृश्यता का शिकार दिखाई देते हैं और उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाता है जैसा सवर्ण दलित समाज के साथ करते हैं। "कुछ आदिवासी औरतें (गोंड) साथ की सड़क के पार बने बँगलों में स्पृश्य लोगों के घर बर्तन माँजना, झाड़ू-पोछा, कपड़े धोने का काम करती थीं। वहाँ के लोग अछूतों से यह काम नहीं करवाते थे। वैसे देखा जाए तो गोंड (आदिवासी) जाति का रहन-सहन महार-माँगों जैसा ही था। न वे पढ़े-लिखे थे न अमीर, परंतु वे अछूत नहीं थे। किंतु ब्राम्हण या उच्च समझे जाने वाले लोग इन्हें घर की चीजों को छूने नहीं देते। बाहर नल होते थे वहाँ वे बर्तन-कपड़े धोकर वहीं रखते। बाद में घर के लोग एक बार फिर इन्हें पानी से निकालकर अंदर लाते। झाड़ू सिर्फ आँगन में ही लगाते थे और उस पर गोबर का पानी छिड़कने का काम इन से करवाते थे। ये लोग भी महार-माँगो के घर नहीं आते-बैठते। वे इनसे छुआछूत बरतते थे। वे भी एक ओर रहते थे। सब जातियों के घर अलग-अलग थे।"[61] आत्मकथा में सवर्ण समाज के छुआछूत और अस्पृश्यता दिखाई देती है तो दलित समाज भी जातियों में उपजातियों में बँटा है। उन्हीं आधारों पर दलित समाज के अन्दर भी शोषण और अस्पृश्यता दिखाई देता है। इसलिए सर्वप्रथम दलित समाज को आंतरिक जातिवाद को खत्म करना होगा और एक समाजवाद व्यवस्था स्थापित करना होगा। जिससे समाज में रोटी और बेटी का संबंध स्थापित हो सके। इसके बाद एकजुट होकर इस जातिवाद को पूरे समाज से खत्म करना होगा। दलित रचनाकार सवर्णों के जातिवाद की तो बात करते हैं लेकिन अपने आंतरिक जातिवाद पर चुप्पी साध लेते हैं। उन

पर कुछ नहीं बोलते हैं, अपने आंतरिक जातिवाद के ऊपर बोलना होगा और उन्हें खत्म करना होगा, तभी दलित समाज के लिए बेहतर होगा।

5.2 रीति-रिवाज एवं मान्यताएँ:

भारत देश बहुधार्मिक देश है। कई धर्म के लोग एक साथ निवास करते हैं। किसी की भी उपासना एवं कोई भी धर्म मानने की इजाजत भारत का संविधान देता है इसलिए सबकी मान्यताएँ अलग-अलग हैं। कुछ मूर्ति-पूजा में विश्वास करते हैं तो, कुछ मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करते हैं। कुछ प्रकृति को ही अपना आराध्य मानते हैं और कुछ निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, इसीलिए भक्ति काल में सगुण और निर्गुण परंपरा को देखते हैं। भारतीय समाज कई धार्मिक मान्यताओं को मानने वाला है उसका प्रभाव दलित समाज पर भी देखने को मिलता है। ज्यादातर दलित जातियाँ हिंदू धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करती हैं, लेकिन दलित आत्मकथाओं को विस्तार से देखे तो वह अलग ही दिखाई देते हैं और उनके देवी-देवता हिंदू धर्म से ही अलग हैं। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' में बताते हैं कि "पिता पूजा भी करते थे। मंशादेवी और न जाने किन-किन देवियों की तस्वीरें हवेली में हुआ करती थीं। शाम को वे इन तस्वीरों के आगे धूपबत्ती भी जलाते थे। पर बा किसी देवी-देवता की पूजा न करता था। हमारे कच्चे घर में भी किसी देवी-देवता की तस्वीर ना थी।"[62] हिंदू धर्म में मूर्ति पूजा को स्वीकार किया गया है जिसका प्रभाव दलित समाज पर भी दिखाई देता है जो दलित आर्थिक रूप से मजबूत हो गए हैं, उन पर हिंदू धर्म का प्रभाव साफ साफ दिखाई देता है। वह धार्मिक कर्मकांड एवं मूर्ति-पूजा हिंदुओं की मान्यताएँ के अनुसार करते हैं। लेकिन जो आर्थिक रूप से कमजोर है, उनपर बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखाई देता हैं। दलित समाज पर डॉ.. भीमराव अंबेडकर के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात उसका प्रभाव दिखाई देता है इसलिए दलित बौद्ध धर्म स्वीकार करते हैं। दलित समाज के कुछ लोग ऐसे भी है जो कोई भी धर्म स्वीकार नहीं है। दलित समाज को हिंदू उनको अपना स्वीकार नहीं करते हैं और मुस्लिम उन्हें हिन्दू नहीं मानते। जब भी दंगे होते थे तो इसका खामियाजा दलितों को भोगना पड़ता था दलित समाज के रीति-रिवाज

किसी धर्म बंधन में बंधे नहीं थे उन्होंने अपनी परंपराएं खुद बनाइ थी। "हम पूजा भी करते थे और पीर पर चादर भी चढ़ाते थे। हमारे घर मीर पूजता था और सूअर से हम परहेज भी करते थे। स्वयं माँ ने एक दिन बकरा काटा था। बकरे को काटकर उसका गर्म और गाढ़ा खून नीम के पेड़ के पास कच्चे आँगन में दबा दिया था। फिर बकरे का गोश्त पकाया गया था। स्वयं खाया था और वह प्रसाद के रूप में अड़ोसी-पड़ोसियों को बाँटा था। दूसरी तरफ काली देवी का बकरा, परमेश्वरी देवी का बकरा भी हमारी जात में चढ़ाया जाता था।"[63] मोहनदास नैमिशराय जहाँ रहते थे वहाँ मुस्लिमों की आबादी भी थी इसलिए हिंदू और मुस्लिम धर्म के प्रभाव दलित समाज पर देखने को मिलते हैं। मुस्लिमों की परंपराओं और रीति-रिवाजों का प्रभाव दलित समाज पर भी दिखाई देता है। हिंदुओं की परंपराओं को भी मानते थे। लेखक बताते हैं कि "मेरठ में यूँ पीरों की भरमार थी। जिधर भी नजर जाती मजार ही मजाक नजर आतीं। जिसके पास लंबी-लंबी छड़ी रखे हाजी तथा मौलवी पंखा झल रहे होते। कुछ बड़े पीर थे, उनका नाम दलित जातियों के भीतर सम्मान के साथ लिया जाता था। उनमें विशेष थे बुरहा पीर, नट बाबा, जहार पीर, गूँगा पीर। गूँगा पीर की याद में तो छड़ियों का मेला भी लगता था। जिसे दलित-पिछड़ों का ही मेला मान लिया गया था। हमारी जात के मेले में भी अलग बना दिए गए थे। हमारे पेड़ भी अलग थे। नीम के बारे में अकसर कहा जाता था कि यह चमारों के घरों में ही होता है, हमारे बीच देवी-देवताओं का भी उद्भव हो गया था। माता माई, भूमिया माई, शीतला माता जैसे अनगिनत देवियाँ हो गई थी।"[64] मोहनदास नैमिशराय बताते हैं कि दलित समाज की इतनी परंपराएँ रही होंगी लेकिन इन परंपराओं को दबा दिया गया या खत्म कर दिया गया, जिससे यह अन्य धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करने लगे। हिंदू और मुस्लिम धर्म से अलग मान्यताएँ जूठन आत्मकथा में मिलती है। दलित समाज के अपने अलग मान्यताएँ एवं देवी-देवता है। "प्रत्येक घर में उन देवताओं की पूजा होती थी। ये देवता हिंदू देवी-देवताओं से अलग होते हैं, जिनके नाम किसी पोथी-पुराण में ढूँढने से भी नहीं मिलेंगे। लेकिन किसी भी ऐसे परिवार में चले जाइए जिनका संबंध इस बिरादरी से है, वहाँ इन देवी-देवताओं की पूजा देखने को मिलेगी। जन्म हो या कोई शुभ कार्य, शादी- विवाह या

मृत्यु-भोज!-इन देवी-देवताओं की पूजा बिना अधूरा है।"[65] ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा में बताते हैं कि वाल्मीकि समाज के लोग हिंदू धर्म की मान्यताओं को नहीं मानते थे और इनके धार्मिक मान्यताएँ अलग थी। "कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिंदू थे, लेकिन किसी हिंदू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारपीर की पूजा होती थी या फिर 'पौने' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में।

इसी प्रकार दीपावली पर लक्ष्मी का पूजन नहीं, माई मदारन धारण के नाम पर सूअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कड़ाही की जाती है। कड़ाही यानी हलवा-पूरी का भोग लगाया जाता है।"[66] ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि जैसा हिंदू धर्म में दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा होती है और जन्माष्टमी के दिन कृष्ण की पूजा होती है। वैसे ही वाल्मीकि समाज में कृष्ण और लक्ष्मी की पूजा नहीं होती है। इनके देवी- देवता अलग हैं यह उन्हीं की पूजा अर्चना करते हैं। आगे वो कहते हैं कि "वैसे भी बस्ती में ही नहीं, पूरे वाल्मीकि समाज में हिंदू देवी-देवताओं की पूजा नहीं होती है। पढ़े-लिखे लोगों में देखा-देखी कर लेने की बात और है। ये पूजा करते हैं, अपने देवी-देवताओं की जिनके नाम न तो वैदिक ग्रंथों में मिलेंगे, न पुराणों में। पूजा की विधियाँ भी अलग हैं।"[67] ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि धार्मिक संस्कार वाल्मीकि समाज के वह हिंदू धर्म से अलग हैं। यह धार्मिक मान्यताएँ उन्हें किसी पुराण या किसी ग्रंथ में देखने को नहीं मिलेगी। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाज में चली आ रहे हैं। यह हिंदू धर्म से अलग है, देवी-देवता अलग होने के साथ-साथ इनकी पूजा की विधियाँ भी हिंदू धर्म से अलग है। हिंदू धर्म का प्रभाव केवल उन्हीं पर देखने को मिलता है जो पढ़-लिख गए हैं। बाकी ग्रामीण समाज आज भी उन्हीं देवी-देवताओं की पूजा किया करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में काम करने के दौरान जब उत्तराखंड (देहरादून) में रहते हैं, तो वहाँ पर हिंदूधर्म को मानने वाले भी पशुबलि करते हैं। "देहरादून और उसके आसपास पशु-बली आम बात थी। देहरादून ही नहीं, गढ़वाल में भी एक देवी खेरावदनी के मंदिर में प्रतिवर्ष भैंसों की बलि देने की प्रथा थी। यह मंदिर पौड़ी जनपद के काड़ा नामक स्थान पर है। दीपावली के दूसरे दिन भैंसों की बलि दी जाती थी।

गढ़वाल-कुमाऊँ सीमा के निकट बोरोंखाल (गढ़वाल) व माल्दे (अल्मोड़ा-कुमायूँ) विकासखंडों के अंतर्गत आयोजित किए जाने वाले कालिंगा मेले में ढाई- तीन हजार पशुओं की बलि दी जाती है।"[68] ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि वर्तमान परिपेक्ष में यह धर्म इतना सात्विक भाव कैसे पैदा कर सकता है जहाँ पर पशु बलि आम बात है। उत्तराखंड को देवभूमि कहा गया है इसलिए पशुबलि हिंदू धर्म का एक सामान्य घटना मानी जाती है। हिन्दू धर्म में पशु बलि के सन्दर्भ दिखाई देते है। तुलसीराम अपनी आत्मकथा मुर्दहिया में बताते हैं कि दलितों की अपनी अलग देवी-देवता और धार्मिक मान्यताएँ हैं। किसी भी प्रकार के कष्ट या प्रकोप आने पर वह उन्हीं देवी देवताओं की पूजा किया करते हैं। जिसका उल्लेख आगे करते हैं। "जब मैं तीन साल का हुआ, गांव में चेचक की महामारी आई। मेरे ऊपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। चेचक से मैं मरणासन्न हो गया। घर में स्थानीय ग्रामीण देवी-देवताओं की पूजा शुरू हो गई। उस समय गांव में दलितों के अलग देवी-देवता होते थे, जिसकी पूजा सवर्ण नहीं करते थे। हमारे गांव में भी 'चमरिया माई' और 'डीह बाबा' दो ऐसे ही देवी-देवता थे, जिनकी पूजा दलित करते थे। इन दोनों को सूअर तथा बकरे की बलि दी जाती थी। बलि के अलावा इन्हें 'हलवा-सोहारी' (पूडी), 'धार' और 'पुजौरा' भी चढ़ाया जाता था। एक लोटा पानी में कुछ जायफल, छुहारा, लौंग आदि मिला दिया जाता, जिसे 'धार' कहते थे। एक मुट्ठी जौ का आटा पुजौरा कहलाता था।"[69] तुलसीराम अपनी बचपन की एक घटना के माध्यम से बताते हैं कि दलित समाज के जो देवी-देवता है, वह हिंदू समाज से अलग है। इनकी पूजा केवल दलित समाज के लोग ही करते हैं हिंदू धर्म के लोग नहीं करते हैं। इनके देवताओं को पूडी-कचौड़ी और पशुबलि (बकरा, सूअर) देवताओं को भेंट किया। तुलसीराम के चाचा जब कोलकाता का माने जाते हैं तो वहाँ से रामायण खरीद कर लाते हैं। तुलसीराम ही अपने घर में पढ़े-लिखे व्यक्ति या बालक हैं, तो उन्हें पढ़ने के लिए दिया जाता है। इसका आयोजन गाँव के कुएँ के चबूतरे पर किया जाता है। गांव के 25-30 लोग सुनते आ जाते हैं, उनके चाचा सुंदरकांड सुनने का आग्रह करते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि दलित समाज में भी सवर्णों के धार्मिक ग्रंथ या महापुरुष की कहानियाँ धीरे-धीरे समझाई जा रही हैं। दलित

समाज अपनी मान्यताओं और रीति-रिवाजों को धीरे-धीरे भूलता जा रहा है, जिसका मुख्य कारणअशिक्षा, अज्ञानता है। जिसकारण उसका कोई लिपि बन्ध रूप नहीं मिलता है। तुलसीराम दलित समाज के शादी-विवाह में होने वाली कार्यक्रमों का भी जिक्र करते हैं।

"सोने की थाली में जेवना परोसो रामा,

जेवना ना जेवै हमार बलमा।

यह एक अत्यंत प्रचलित लोकगीत हुआ करता था, जिसे मटमंगरा से लेकर शादी के दिन तक लगातार गाया जाता था। इस दौरान दलितों की झोपड़ियों की दीवारों पर कोहबर कलाकृतियां विभिन्न रंगों में उभडकर अपना एक अलग ही सौंदर्य बिखेरने लगती थीं। दीवार पर गेरू तथा हल्दी से जो पेंटिंग की जाती थी, उसे कोहबर कहा जाता था। इसी कलाकृतियों में केले का पेड़, हाथी, घोड़े, औरत, धनुष-बाण आदि शामिल होते थे। इन कलाकृतियों को 'कोहबर लिखना' कहा जाता था। चिट्ठी की तरह कोहबर लिखने के लिए भी गांव वाले मेरी ही तलाश में रहते थे। अतः मैं जब तक गांव में रहा, शादी किसी के घर हो, कोहबर मैं ही लिखता रहा। एक विशेष बात यह थी कि इनको कोहबर कलाकृतियों का प्रचलन सवर्ण जातियों में नहीं था। इन परंपराओं से जाहिर होता है कि सदियों से चला आ रहा दलितों का यह बहिष्कृत समुदाय एक अलौकिक कला एवं संगीत का न सिर्फ संरक्षक रहा, बल्कि उसका वाहक भी है। अशिक्षा के कारण लिपि का ज्ञान न होने के कारण दलित लोग संभवत: भारत के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अभिव्यक्त के लिए कोहबर पेंटिंग का सहारा लिया था।"[70] कोहबर कला का प्रयोग शादी-विवाह में उत्तर भारत की सभी जातियों में किया जाता है। तुलसीराम ने अन्य जातियों में इसकी पड़ताल नहीं की होगी या फिर कोहबर को केवल दलित समाज का बताने की जल्दीबाजी की।

तुलसीराम ने मुर्दहिया के प्रथम खंड के बाद मणिकर्णिका का दूसरा खंड लिखा जिसमें वह बनारस की परिवेश, धार्मिक मान्यताओं की चर्चा करते हैं। बनारस मुक्ति का शहर है जहाँ मृत्यु होने

के बाद लोग आते है, उनका दाह-संस्कार करते हैं। मणिकर्णिका हिंदू समाज के लिए एक प्रसिद्ध घाट है जहाँ दाह-संस्कार करने से यह मान्यता है कि वह सीधे स्वर्ग में जाता है। दलित समाज को जमीन पर तो कुछ मिला ही नहीं तो स्वर्ग की क्या चिंता? वह इन मान्यताओं पर विश्वास नहीं करता था। सुशीला की नानी भगवान को भी कोसती हुई कहती हैं। "जिनके लिए भगवान के नाम से सब अच्छा है, वह भगवान की स्तुति ही करेंगे, लेकिन जिनके लिए कुछ अच्छा नहीं, जिन्हें सुख-सुविधा, अवसर-अधिकार जैसी कोई चीज नहीं, वे भला भगवान को क्यों न कोंसें? सोचने की बात है। ऐसे समय नानी कहती थी-"किसका भगवान? कौनसा भगवान? कैसा भगवान?"[71] दलित समाज की अगर एक-दो पीढ़ी भी पीछे जाते हैं तो किसी भी प्रकार के धार्मिक कर्मकांड एवं भगवान की उपासना के साक्ष्य नहीं मिलते हैं। उनके विषय में दलितों के द्वारा कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। दलित समाज की अपनी धार्मिक मान्यताएँ, परंपराएं, रीति-रिवाज है। लेकिन उनको संरक्षित करने दलित समाज का अशिक्षित एवं अज्ञानी हैं। अशिक्षित होने का दलितों को बहुत नुकसान हुआ। वह अपनी जड़ों से दूर हो गए और अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं को सुरक्षित नहीं रख सके। सुशीला 'शिकंजे का दर्द' में बताती हैं। "राखी के दूसरे दिन भुजलियों का त्यौहार रहता। बानापुर में हमारी जाति के सिर्फ दो घर थे माँ और नानी का। सिवनी में पूरा मोहल्ला था दस-बारह घर का। सभी लोग एक दूसरे के घर जाते, भुजलिएँ देकर गले मिलते। हमारे घर कभी भुजलिएँ उगाकर पूजा नहीं की गई। जाती ये हिंदू त्यौहार हैं, हम हिंदू नहीं थे मगर उनके त्यौहारों और रीति-रिवाजों का अनुकरण करते थे। सिवनी ही कुछ बहू बेटियाँ हिंदू महाजन की बहू बेटियों को देखकर भुजलिएँ उगाकर पूजा करती थीं। हमारे समाज के अधिकतर लोग माँगकर लाई भुजलिएँ एक दूसरे को देकर खुश होते थे।"[72] दलित समाज में धार्मिक मान्यताएँ अलग है, वह हिंदू धर्म की मान्यताओं को नहीं मानता है लेकिन नई पीढ़ी हिंदू धर्म की मान्यताओं को स्वीकार कर रही है। इसका मूल कारण शिक्षा एवं दलितों की मान्यताओं को नीचा दिखाना है, इसीलिए वह अपनी मान्यताओं और रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं करते है। शादी-विवाह में दलित समाज के अलग रीति-रिवाज होते है। जिसका उल्लेख सुशीला टाकभौरे करती हैं।

"हमारे लोग पूजा में बहुत विश्वास करते थे। विवाह या किसी शुभ कार्य के पहले देवी-देवता की पूजा करना जरूरी मानते। निश्चित दिनों में पूजा ना करने पर उन्हें देवी-देवता के कोप का भय रहता। हमारे घर पीर बाबा की पूजा होती थी। घर के आँगन के सामने पीर बाबा का थान था। मिट्टी के चौकोर चबूतरे पर बीच में एक फुट के वर्ग में चार कोन पर चार पिंड और उनके बीच एक पिंड, यही था पीर बाबा का थान। इस थान को हमेशा सफेद चाक मिट्टी से लीप पोतकर रखा जाता था।"[73] सुशीला टैगोर आगे बताती हैं कि पीर बाबा की एक साल में एक बार पूजा होती और चढ़ावे के रूप में इनको मुर्गा और मलीदा चढ़ाया जाता। मलीदा आटे के द्वारा बनाया जाता था, जिसमें गुड़, घी, शक्कर मिलाकर बनाते थे। दलितों के धार्मिक मान्यताएँ एवं रीति-रिवाज या परंपरा हिंदू धर्म से अलग हैं। इनकी अपनी मान्यताएँ है। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा में बताते हैं कि उनके यहाँ भी धार्मिक मान्यताएँ हिंदू धर्म से अलग हैं। जिसका उल्लेख हो करते हैं। "जहाँ तक मेरी याददाश्त है, मेरे घर-परिवार के जो संस्कार रहे उनमें शराब, जुआ या अन्य व्यसनों के लिए कोई जगह नहीं थी। व्रत, पूजा, गंगा-स्नान आदि सब वंश रीति के अनुसार चलते थे। लेकिन हमारे देवताओं में नौंना चमारी, भौपुर की चामुंडा, बंगाले के बंगाली बाबा, सैयद बाबा प्रमुख थे। मेरे घर सहित पूरे चमरियाने में दारूबाजी का चलन तो दूर नशीले पदार्थों का नामोनिशान तक नहीं था।"[74] श्यौराज सिंह बेचैन को दलित समाज में नशीले पदार्थों का सेवन नहीं देखने को मिलता है यह अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है क्योंकि दलित समाज में नशीले पदार्थों का सेवन होता रहा है। यह हो सकता है कि इनके परिवेश में नशीले पदार्थों का सेवन ना रहा हो। दलित समाज के शादी-विवाह के रीति- रिवाज भी अलग दिखाई देते हैं क्योंकि दलितों में पुनर्विवाह होता है। दलित समाज में पुनर्विवाह करने की कोई रोक-टोक भी नहीं है। लेकिन इनकी कुछ विधियाँ की चर्चा दोहरा अभिशाप में कौशल्या बसंती करती हैं। "अस्पृश्य समाज में अगर कोई विधवा दोबारा शादी करना चाहे तो उसके लिए कोई रोक-टोक तो थी ही नहीं। तलाकशुदा औरतों को भी दूसरा घर करने में समाज को कोई आपत्ति नहीं थी परंतु इस दूसरी शादी की विधि अलग थी और इसे विवाह न कहकर 'पाट' कहते थे। इस विधि में विधवा को सारे

सौभाग्यवती के चिह्न मंगलसूत्र, बिछुए, बिंदी वगैरह लगाकर सिंदूरी रंग की साड़ी पहनाकर रात के अंधेरे में उसका पति अपने घर लाता था। इस कार्यक्रम में बाजा-गाजा या मंडप बगैरा नहीं रहता था। हाँ दोनों ओर के रिश्तेदार, मित्र मंडली का खाना-पीना होता था। तलाकशुदा का भी 'पाट' होता था जैसे कि विधवा का, परंतु तलाकशुदा को रात में नहीं लाते थे।"[75] कौशल्या बसंती अपने समाज के मान्यताओं या रीति-रिवाजों को बताती हैं कि विधवा या तलाकशुदा दोनों ही स्थितियों में स्त्री की शादी हो सकती है। लेकिन उनके मान्यताएँ अलग हैं जिसमें बाजा-गाजा नहीं बजता है। रात के समय विदाई हो जाती है। रात के समय केवल विधवा महिला को ही लाया जाता था जबकि तलाकशुदा के लिए कोई नियम नहीं था। कौशल्या बसंती अपनी जाति की एक त्यौहार के विषय में बताती हैं कि "जनवरी महीने में एक त्यौहार आता जिसे सिर्फ कोसरे उपजाति ही मनाती थी, उसे 'सूर्या' कहते। सूर्य की पूजा करते। वह भी आँगन में सूर्य निकलने पर सवेरे मुर्गे की बलि देते थे। मुर्गे का सिर काटकर उसे दिन भर आँगन में ही पूजा के स्थान पर टोकरी ढाककर रखते थे। मुर्गा पकाकर खाते थे। शाम को मुर्गे के सिर को पकाकर प्रसाद के रूप में खाते थे परंतु अब यह सब रस्म-रिवाज बंद हो गए।"[76] लेखिका बताती हैं कि यह केवल कोसरे उपजातियों में की जाती थी। अन्य उपजातियों में यह रस्म नहीं थी। कौसल्या बताती हैं कि उनकी जातियों के बीच एक देवी थी, जिनकी पूजा आषाढ़ के दिन में की जाती है जिसका वर्णन उन्होंने किया है "आषाढ़-पूर्णिमा के दिन मंदिर में बहुत बड़ी पूजा होती थी। देवी पर बकरे-मुर्गों की बलि दी जाती थी। नारियल-गुड भी चढ़ाया जाता था। बच्चों के झुंड प्रसाद के लिए वहाँ जम जाते थे। बलि के प्राणी का मांस घर में लाकर और पकाकर खाते थे। अब अधिकांश महार बौद्ध हो गए हैं और उन्होंने इस अंधविश्वास और काल्पनिक देवी-देवताओं को पूजना छोड़ दिया है। माता के मंदिर की जगह अब यहाँ बौद्ध मंदिर बन गया है।"[77] दलित समाज के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसमें परिवर्तन साफ दिखाई देता है। वह बौद्ध धर्म को पूजने के अलावा अन्य किसी को भी नहीं पूछता है इसका प्रभाव ऊपर के सन्दर्भ में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र के इलाके में गणेश चतुर्थी या गणेश पूजन का बहुत महत्त्वपूर्ण है। पूरे मराठा समाज में इस पूजा का बहुत

महत्त्व है। यह बहुत प्रचलित भी है लेकिन दलितों के यहाँ इसकी मान्यताएँ अलग-अलग हैं जिसका उल्लेख कौशल्या बसंती करती हैं। "अस्पृश्य समाज के लोग गणपति पूजा को इतना महत्त्व नहीं देते थे। वे तो शिवजी और कृष्ण के भक्त थे। उनके अपने भी कुछ देवी -देवता थे। मरीमाई, खंडोबा, देवदुल्ला, वाघोबा वगैरह, उनकी वे पूजा करते थे।"[78] दलित समाज के भी देवी-देवता जिनकी पूजा करते है, वह हिंदू धर्म के देवी-देवता से अलग है। कुछ ऐसे भी दलित हैं जो हिंदू धर्म की देवी-देवताओं की भी पूजा करते हैं। जिसका उल्लेख आधुनिक युग में ज्यादा देखने को मिलता है अगर एक-दो पीढ़ी पीछे जाते हैं तो उनकी मान्यताएँ अलग हैं, उनके देवी-देवता अलगहै। हिंदू धर्म की मान्यता के आधार पर दलित अपने शव को जलाते है। तुलसीराम ने मणिकर्णिका व मुर्दहिया आत्मकथा में बताया है। दलित अपने शव को मुस्लिम या ईसाई की तरह दफ़नाते के भी उल्लेख मिलते है। लेकिन कौसल्या बैसंत्री 'दोहरा अभिशाप' में बताती हैं कि उनके शवों को जलाया नहीं दफनाया जाता है। "बुजुर्ग कहते थे कि मरने के बाद गुदना ही हिसाब से जाता है और कोई चीज साथ नहीं जाती। उस वक्त हमारे लोग शव को दफनाते थे, जलाते नहीं थे। आदिवासी औरतें गोदने के बदले पैसे, अनाज, चावल, आटा वगैरह ही लेती थीं वे हमारे हाथ की रोटी-पानी नहीं लेती थीं।"[79]

शरणकुमार लिंबाले ने अपनी आत्मकथा में दलित समाज के सांस्कृतिक चेतना और सांस्कृतिक मान्यताओं के विषय में बताया है कि "ईश्वर को संतति समर्पित करने की परंपरा केवल पिछड़ी जातियों में ही है। अम्बाबाई, यल्लाम्मा, लक्ष्मी, खंडोबा-यह महान-मतंगों के आराध्य दैवत। मसोबा, मरीआई, खोकल्या आई, सटवाई-नामों की सूची बढ़ाई जा सकती है। किसी के संतति नहीं हो रही हो तो ईश्वर से मनौती माँग लेते। अंबाबाई से मनौती माँगी। लड़की हुई तो उसका नाम अंबाबाई रख दिया और लड़का हुआ तो अंबादास और फिर बाद में इन बेटे-बेटियों को 'आराधक' के रूप में अंबाबाई को अर्पित कर देते हैं। लक्ष्मी से मनौती माँगी। बेटी हुई तो नाम लक्ष्मी और बेटा हुआ तो नाम लक्ष्मण। लक्ष्मी को पोतराज के लिए बेटे को छोड़ दिया जाता है। खंडोबा पर भी बेटे-बेटियाँ छोड़ने का इधर रिवाज है। बेटे को 'वाध्य' तथा बेटी को 'मुरली' कहा जाता है। यल्लामा के

'जोगत्या' और 'जोगती' होती हैं। मैंने कभी ब्राह्मण पोतराज या लिंगायत वाध्य को देखा नहीं हैं। दलितों में ही यह रूढ़ियाँ क्यों? भगवान के नाम पर छोड़े गए स्त्री-पुरुषों के विवाह नहीं होते। उनका विवाह तो ईश्वर से हो जाता है ना! देवदासी अपनी मर्जी के पुरुष के साथ जी सकती है। देवदासी की संतान को 'अक्करमाशी' कहते हैं। उन्हें 'बलूतं' का अधिकार नहीं होता। ईश्वर के नाम पर भीख माँगकर उन्हें जीना पड़ता है।"[80] दलित समाज की धार्मिक मान्यताओं के विषय में बताते हैं कि दलित समाज का मनौती का पुत्रया पुत्री उसे भगवान को समर्पित कर दिया जाता है। पुत्र पोतराज के रूप मेंजाना जाता है और पुत्री देवदासी के रूप में।

सवर्णों के सारे धार्मिक क्रियाकलाप, सभी संस्कार ब्राह्मणों के द्वारा किये जाते थे। दलितों में भी कहीं-कहीं यह प्रक्रिया देखने को मिलती है उनके यहाँ भाटो के द्वारा यह कार्य किया जाता है जिसका उल्लेख दया पवार ने अपनी आत्मकथा करते है। "जिस प्रकार सवर्णों की सारी विधि ब्राह्मण पुरोहित करता है, वैसे ही जमाने में महारों की विधि भाट करता था। यह भाट तालुके में रहता। बच्चों का नामकरण, शादी-ब्याह इत्यादि काम भाट करता था। वैसे ये भाट जाति से महार ही थे। परंतु इन्हें महान लोग छोटा समझते। दरवाजे पर आने के बाद 'राव साहब, पुण्य महाराज' इस तरह पुकारते। हमारे घर आनेवाला सीताराम भाट स्वभाव का बहुत ही मीठा था। बातें करने में एक अलग मिठास थी। सभी को प्यारा लगता था उसका व्यक्तित्व।"[81] दलित समाज के रीति-रिवाज, परंपरा एवं संस्कार अलग थे और उनको काम करने के तरीके भी अलग थे आत्मकथा में देखने को मिलते हैं। दया पवार बताते हैं कि किस प्रकार उनके यहाँ खंडोबा की पूजा होती है। "पुरानी परंपरा से हमारे घर में खंडोबा की पूजा होती। माँ ने चांदी के कुछ नए टाँक बनवा लिए थे। पिता की मृत्यु के कारण माँ पर परिस्थितियों के दबाव के कारण डर पैदा हो गया था। वह रविवार को खंडोबा को स्नान करवाने के लिए कहती। घोड़े पर बैठा खंडोबा। हाथ में तलवार। उनके साथ भैरव रहते। स्नान करवाना अर्थात थाली में पानी लेकर धोना। ईंट की बुगदी से उनका जंग साफ किया जाता। तब वह चमकने लगते। धोया गया पानी छप्पर फेंकते। शाम को आरती की थाली थाल भर जाती। बेल-भंडार फेंकते। नारियल

के टुकड़े बाँटते। माथे पर गुलाल लगाते। जिस प्रकार हफ्ते में एक दिन पूजा के लिए होता, ठीक उसी तरह समाधि पर पानी चढ़ाना भी एक दिन का काम होता। गुरुवार का उपवास रखना पड़ता।"[82] मराठी दलित आत्मकथा में करीब-करीब सभी दलित आत्मकथाकारों में खंडोबा के पूजन की बात की जाती है। मराठी दलित में खंडोबा एक देवता है जिनका पूजा-अर्चना करता है। इनकी मनौती से अगर पुत्र होता था तो खंडोबा को दे देते हैं जिसको पोतराज कहा जाता है। लड़कियों को देवदासी कहा जाता है। पोतराज के विषय में कहा जाता है कि "हर घर की शान होता था, घर का बड़ा बेटा। बड़ा बेटा यानी पोतराज या वाघोबा घर के सम्मान चिन्ह थे मानो। अपने बेटे को परंगत करने की जिम्मेदारी पिता की होती थी। पोतराज या बघोबा हो जाने पर परिवार को घर-खर्च की चिंता नहीं रहती थी। पोतराज की पीढ़ियों से चला आ रहा आय का स्थायी स्रोत था। उसी तरह वाघोबा भी। पूर्वजों की यही एक संपत्ति थी।

वाघोबा के मंदिरों में पूर्वजों का कोरमा (चौकोर बर्तन, जिसमें हल्दी-कुमकुम होता है और जिसकी पूजा की जाती है) घोड़ा (बाघ के चमड़े से बना छोटा थैला जिसमें हल्दी का चूरा होता है) चावंडक (इकतारा) आदि वस्तुएँ होतीं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही यह चीजें मंदिरों में हमेशा रहतीं। यही सब पोतराज को चाहिए, इसलिए इस सामान की पोटली मंदिर के पास खूँटी पर हमेशा टँगी रहती।"[83] मराठी समाज में भैंसों की बलि देखने को मिलती है, किसी भी देवता को चढ़ाया जाता है। बलि से पहले जानवर पर हल्दी और कुमकुम का छिड़काव किया जाता है। वह अपने देवता की जयकारा लगाकर उसे बलि चढ़ा दिया जाता। उसके मांस को पकाकर खाते, ऐसे ही बलि का अनुष्ठान किया गया है अर्थात देवी माँ को चढ़ाया जाता है। यह परंपरा सभी मराठी दलित समाज में देखने को मिलती है, लेकिन हिंदी दलित आत्मकथा में सूअर या बकरे की बलि दी जाता है और अपने आराध्य देवता को चढ़ाया जाता है। हिंदी आत्मकथा में सूअर को लेकर के किसी भी प्रकार का परहेज नहीं दिखता है। वह उन्हें अपने देवी-देवता को भी चढ़ाते हैं, और भोजन के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। लेकिन मराठी समाज में डोम नामक जाति के यहाँ सूअर अपवित्र माना जाता है। बेबी कांबले एक

ऐसी घटना का जिक्र करती हैं जिसमें नानी मरे जानवर का मांस लेने जाती है उनको मनपसंद हिस्सा नहीं मिलता है, तो गुस्से में कहती हैं कि "आज से जो लोग भी ढोर का मांस खाएगा, उसे सूअर की कसम, वो सूअर का मांस खाएगा। डोम और मुसलमान दोनों के धर्म में सूअर का नाम तक लेने की मनाही है। सूअर का नाम सुनते ही लोग थू-थू करने लगे। लोगों ने अपने हाथ का मटन दूर फेंक दिया। कुछ औरतें नानी को मारने के लिए आईं तो कुछ औरतों ने नानी को 'सत्यानाश हो जाए' इस तरह की गंदी-गंदी गालियाँ दी। शोर सुनकर कुछ जवान लड़के वहाँ गया और इस प्रकार देख उन्होंने नानी को शाबाशी दी।"[84] मराठी डोम समाज में सूअर को एक अपवित्र पशु माना गया है। इसीलिए उसका भोजन कोई नहीं करता है। अतः नानी के द्वारा कसम देने पर लोग उन्हें बुरा-भला कहते हैं। लेकिन कुछ पढ़े-लिखे व्यक्ति शाबाशी भी देते हैं कि चलो इसी बहाने अब लोग मरे हुए जानवरों का मांस नहीं खाएंगे। मराठी दलित आत्मकथा में बलि के रूप में जानवरों का प्रयोग बहुत मात्रा में दिखाई देता है। बकरे, भैसें आदि की बलि अपने आराध्य देवता को चढ़ाते हैं जिसका उल्लेख लक्ष्मण गायकवाड ने किया है। "वर्षों से तेल और सिंदूर उँड़ेलने से अब तक यह ,देवी माँ' साठ-सत्तर किलो की हो गई थी। एक मंगलवार को बड़े सवेरे उठकर डफली बजाते हुए बकरे को इस मंदिर तक लाया गया। करीम चाचा को बुलाया गया। परिवार का प्रत्येक सदस्य बारी-बारी से बकरे के पास गया। सबने उस पर हल्दी-सिंदूर छिड़ककर उसके पैरों का स्पर्श किया। सबसे पहले मुझे कहा गया और सबसे आखिर में माँ ने पानी छोड़कर बकरे के पैर छुए। बकरा संकट को शायद महसूस कर रहा था। वह छटपटाने लगा। करीम चाचा ने उसे जमीन पर लिटा दिया। एक गड्ढे के निकट उसकी गर्दन पकड़कर करीम चाचा ने जोर से कहा, "या अल्लाह।" और कुछ क्षणों में उसने बकरे का सिर धड़ से अलग कर दिया। खून तेजी से बहने लगा। उस तथाकथित मंदिर के सामने वह गड्ढा खून से भर गया।"[85] दलित समाज की मान्यताओं में बकरे बलि एक मुस्लिम व्यक्ति करीम दे रहा है। उठाईगीर समाज के देवी-देवता को यह चढ़ाया जा रहा है। यह एक अनोखी घटना दिखती है कि किसी दलित समाज में किसी अन्य धर्म का व्यक्ति बलि दे रहा है। लेकिन किसी भी प्रकार का कोई वैमनस्य नहीं दिखता है। हिंदू धर्म में मुस्लिमों

को लेकर एक विरोध साफ-साफ देखा जा सकता है, लेकिन दलित समाज के साथ मुस्लिम का सम्बन्ध हिन्दुओ जैसा नहीं है। लक्ष्मण गायकवाड एक अन्य धार्मिक मान्यता के विषय में बताते हैं कि "मेरे गाँव से तीन कोस पर देवताला की देवी है। उस देवी के यहाँ महीने के पंद्रह दिन यात्रा होती हैं। दूर-दूर से लोग आते हैं। मेरे रिश्ते की शेवंता इस देवी की आराधिका थी। चार-पाँच औरतें मिलकर जोगना माँगने निकलतीं। मैं शेवंता के पीछे-पीछे हो लेता। हाथ में घर की परड़ी होती। गले में कौड़ियों की माला पहनता। देवताला पहुँचने तक जितने गाँव लगते, वहाँ जोगना माँगता। जवार की रोटियाँ, गेहूँ की चपातियाँ अथवा गेहूँ और बेसनयुक्त रोटियाँ लोग परोसते।"[86] लक्ष्मण गायकवाड जोगना मातृसत्तात्मक पद्धति के कर्मकांड के है यह आराधिकाएँ होती है जो मंगलवार और शक्रवार को घर-घर देवी के नाम पर भिक्षा माँगती है। लक्ष्मण गायकवाड बालाजी के पूजा विधि को भी बताते हैं कि दलित एवं हिंदू जातियों के पूजा पद्धति अलग-अलग है। "हमारे समाज में अनेक उपजातियाँ हैं। लातूर के पास लामजना नामक छोटा-सा गाँव है। वहाँ के वर्मा-बंडगर तिरुपति के बालाजी हो आए थे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने वड़ार समाज का एक कार्यक्रम रखा था। इस कार्यक्रम के लिए आंध्र और कर्नाटक से इस जाति के लोग आए थे। मुझे भी बुलाया गया था। इस कार्यक्रम को देखते समय मैंने यह महसूस किया कि अन्य हिंदू लोग बालाजी कि जिस प्रकार पूजा करते हैं, यहाँ ठीक उससे उल्टा होता है। वर्मा बंड़गर तिरुपति हो आए और इसलिए उनके साथ बालाजी भी आए थे, ऐसी जाति की श्रद्धा है। इस कारण कार्यक्रम होने तक जो तिरुपति हो आए थे, उन्हें एक कमरे में बंद कर दिया गया था। कार्यक्रम शुरू हुआ। वड़ार समाज के ये लोग एक तेलुगु गीत गाने लगे, नाचने लगे, लोकवाद्य बजाने लगे। प्रसाद बनवाया गया था। वर्मा- बंडगर जिस कमरे में बंद थे वहाँ सब लोग प्रसाद लेकर गए। वर्मा-बंडगर को बाहर निकालकर नहलाया गया। गीले कपड़ों से उनकी शोभा यात्रा निकाली गई। वाद्य बज रहे थे।"[87] दलित समाज धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाज हिंदू समाज से अलग है। उनके ज्यादातर देवी-देवता भी अलग है। उर्मिला पवार अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि होली के लिए जब पूजा-पाठ होता था तो गाँव के लोग इकठ्ठा होकर मनाते थे कि "अँधेरा होते-होते

मंदिर के पुजारी से पूजा करवाकर होली जलाई जाती थी। वहाँ पर एकत्रित, गाँव के बड़े बुजुर्ग, मराठे, भंडारी, कुणबी आदि गाँव के भले के लिए आह्वान किया करते थे। इस आह्वान में एक तो ऐसा आह्वान था कि- गाँव की बला टल जाये और महारों के सिर पर पड़े।' आह्वान के बाद दी जाने वाली गालियाँ भी महारों की काफी मिट्टी-पलीद होती थी, लेकिन प्रतिवाद करने का साहस महारों में नहीं था। इसके अलावा एक और रिवाज भगवान की पालकी नचाने का था। रेशमी फुँदने लगी भगवान की पालकी कंधों पर रखकर बड़े जोश में, जलती होली के इर्द-गिर्द रचायी जाती थी।"[88]

दलित समाज में धार्मिक मान्यताओं के साथ-साथ कुछ अंधविश्वास भी व्याप्त थे जिनको लेकर दलित समाज एक परंपरा के रूप में कार्य करता था। इस समाज में भूत-प्रेत को लेकर के अंधविश्वास बहुत गहरे तक है। यह हिंदी और मराठी दोनों आत्मकथा में देखने को मिलता है। जिसका उल्लेख मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में करते हैं। "यूँ भूत-प्रेत उतारने का कार्य कलिया का मर्द यानी भगवान सहाय ही करता था। वह इस कार्य में सिद्ध हो गया था। शायद ही कोई ऐसा दिन बिना नागा के जाता जब कोई भुतमाया आदमी या भूतियाई औरत उसके दरवाजे पर आकर टक्कर नहीं मारते थे। उनके पास आदमियों से अधिक औरतें ही आती थीं। ऐसे समय पर कलिया केवल आग में चिमटा गर्म करना, आग में मिर्च डालना, धूप, अगरबत्ती या लोबान जलाने के साथ हाथ-पाँव पटकते हुए या खेलती हुई भुतियाई औरत को पकडे रखती थी। दूसरी तरफ भगत उसके बाल या चोटी पकड़ कर आरम्भ में सीधी-सीधी पूछता, "बोल कहाँ से आया तू ,पटियाले से या मवाना से।" मेरठ के पास मवाना नाम के दो कस्बे थे। छोटा मवाना और बड़ा मवाना। भगत कुछ देर बाद पूछता, "छोटे मवाना से या बड़े बवाना से।"[89] दलित समाज में भूत-प्रेत ज्यादा देखने को मिलते हैं। क्योंकि दलित समाज में अज्ञानता और अशिक्षा व्याप्त है। जब भी कोई बीमार होता, तो उनको अस्पताल न ले जाकर झाड़-फूँक करवाते थे। जिसका उल्लेख ओमप्रकाश वाल्मीकि भी अपनी आत्मकथा में करते हैं। "बस्ती में जब भी कोई बीमार पड़ जाता, दवा- दारू करने के बजाय भूत-प्रेत की छाया से छुटकारा पाने के कार्य, झाड़-फूँक, टोने-टोटके, ताबीज, गंडे, भभूत आदि की आजमाइश शुरू हो

जाती थी। ये तमाम काम रात में किए जाते थे। जब बीमारी लंबी खिंच जाती थी या गंभीर रूप ले लेती तो किसी भगत को बुलाकर 'पुच्छ' जाती थी। ऐसे समय में भगत के साथ एक ढोलक बजानेवाला, दो-तीन गानेवाले होते थे। जो ढोलक की खास ताल पर एक ही सुर पर गाना गाते थे। गाने में उस देवता का आह्वान होता था, जिसे भगत के शरीर में प्रविष्ट होकर झूमना है। लय- ताल-सुर से ऐसा माहौल बना दिया जाता कि अच्छा खासा व्यक्ति झूमने लगे। गाने में अशिष्ट शब्दों की भरमार होती थी,जो देवता के प्रति आत्मीयता दिखाने की अभिव्यक्ति थी।"[90] दलित समाज में ताबीज, झाड़-फूँक, टोने-टोटके आदि का प्रयोग दिखता है। जब भी बीमारी या महामारी आती है तो इसका प्रयोग दलित करता है। दलित समाज में शिक्षा न होने के कारण इसका प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ ही रहा था। जिसका उल्लेख तुलसीराम ने अपने आत्मकथा मुर्दहिया में किया है। "मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी। मानव जाति का वह पहला व्यक्ति जो जैविक रूप से मेरी खानदानी पूर्वक था, उसके और मेरे बीच न जाने कितने पैदा हुए, किंतु उनमें से कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं था। लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व यूनान देश से भारत आए मिनांदर ने कहा कि आम भारतीयों को लिपि का ज्ञान नहीं है, इसलिए वह पढ़-लिख नहीं सकते। उनके समकालीनों ने तो कोई प्रतिक्रिया नहीं दी, किंतु आधुनिक भारतीय पंडों ने मिनांदर का खूब खंडन- मंडन किया। हकीकत तो यह है कि आज भी करोड़ों भारतीय मिनांदर की कसौटी पर खरा उतरते हैं। सदियों पुरानी इस शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि मूर्खता और मूर्खता के चलते अंधविश्वासों का बोझ मेरे पूर्वजों के सिर से कभी नहीं उतरा...।"[91] तुलसीराम अंधविश्वास का मूल कारण इस समाज की अशिक्षा मानते हैं अशिक्षा के कारण उनमें मूर्खता है। उसी मूर्खता के कारण वह अंधविश्वास का पालन करते हैं। जिसके परिणाम उनके परिवार में भी देखने को मिलते हैं। इनके दादा खेत में फसल की रखवाली के लिए जाते हैं, वहाँ इनकी कुछ लोग मिलकर हत्या कर देते हैं। लेकिन परिवार और गाँव वाले सोचते हैं कि भूतों ने ही मिलकर दादा को मारा है। दूसरी घटना का जिक्र करते है जिसमे वह खुद अन्धविश्वास का शिकार होते है। तुलसीराम को चेचक निकलने के कारण झाड़-फूँक किया गया, जिस कारण उसकी एक आँख से दिखना बंद हो जाता है। ब्राह्मणों के द्वारा मानने

वाले एक अंधविश्वास का उल्लेख करते है। "मुर्दहिया के संदर्भ में सन 1957 का भादो का महीना मेरे जीवन का एक विशेष यादगार महीना है। उस समय हिंदू धर्म के अनुसार 'खरवांस' यानी बहुत अपशगुन वाला महीना था। इस बीच मेरे पिता जी जिस सुदेस्सर नामक ब्राह्मण की हरवा करते थे, उसकी बुढ़िया मां मर गई। उनके ही पट्टीदार अमिता पांडे ने 'पतर' देखकर बताया कि अभी पंद्रह दिन खरवांस है, इसलिए मृत मां का दाह-संस्कार नहीं हो सकता। यदि ऐसा किया गया तो माता जी नरक भोगेंगी। उन्होंने सुझाव दिया कि माताजी की लाश को मुर्दहिया में एक जगह कब्र खोदकर गाड़ दिया जाए, तथा पंद्रह दिन बाद निकाल कर लाश को जलाकर दाह-संस्कार हिंदू रीति से किया जाए। मेरे पिता जी मुझे लेकर मुर्दहिया पर कब खोदने गए। वे फावड़े से कब्र खोदते रहे और मैं मिट्टी हटाता रहा। जब कब्र तैयार हो गई तो सुदेस्सर पांडे अपने पट्टीदारों के साथ लाश को लाकर उस कब्र में डाल दिए। तुरंत उसको मिट्टी से पाट दिया गया। दफनाने से पहले टोटकाबश सुदेस्सर पांडे ने कफन के एक कोने में सोने की मूनरी गठिया दी थी। एक अंधविश्वास के अनुसार किसी लाश के कफन में सोना बांधने से वह जल्दी नहीं सड़ेगी।"[92] ऐसा नहीं है कि दलित समाज में ही अंधविश्वास है, हिंदू धार्मिक मान्यताओं में भी अंधविश्वास है। वह अंधविश्वास शिक्षा के कारण नहीं बल्कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कारण है। दलितों में अंधविश्वास अशिक्षा के कारण है, दलित समाज शिक्षित हो जायेगा तो अंधविश्वास अपने आप दूर हो जाएंगे। श्यौराज सिंह बेचैन एक ऐसी घटना का जिक्र करते हैं जिनमें उनके परिवार के सदस्यों को अंधविश्वास के चक्कर में आकर भूत पकड़ा है ऐसा कहा जाता है। "चाचा को एक के बाद एक उल्टियाँ हो रही थीं। उनके शरीर में पानी की कमी की पूर्ति नहीं की गयी। सवेरे तक उनकी शारीरिक दशा खराब हो गयी। मैं पाँच-छ साल का बच्चा रोने, डरने और घबराने के सिवाय कुछ भी नहीं कर पा रहा था। उस रात का डर आज तक मेरे भीतर नहीं निकला। ऐसे ही कुछ डर और भी हैं जो मेरे भीतर जड़ें जमाए बैठे हैं। पर वह डर गहरा और प्रभावी था। उपचार परंपरागत हुआ। वह झाड़-फूँक और वही भूत पूजा। कोई यही सही नयी पद्धति का इलाज नहीं हुआ। वह जान-बूझ कर नहीं कराया गया था, यह कहना शायद इल्जाम हो। असल बात लोगों में गहरी अज्ञानता,

शिक्षा और अंधविश्वास का होना था। ज्यादातर स्त्रियों का कहना था कि चूँकि रात के बारह बजे राधे ने घेर के सामने के चौराहे पर पेशाब कर दिया था, इस कारण चौराहे वाली चुड़ैल ने उसे पकड़ लिया है। जब तक बड़े 'सयाने-ओझाओं' द्वारा चौराहे वाली से बड़े देवी-देवता नहीं बुलाया जाएँगे तब तक राधे का इलाज नहीं हो सकेगा।"[93] श्यौराज सिंह बेचैन इन अंधविश्वासों का मूल कारण अज्ञानता एवं शिक्षा को मानते हैं। उनके अनुसार जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा और लोग ज्ञान-विज्ञान की उन्नत सभ्यता और संस्कृति के संपर्क में आएंगे दलित समाज में भूत-प्रेत और अंधविश्वास खत्म हो जाएगा। कौशल्या बसंती अपनी आत्मकथा दोहरा अभिशाप में बताती हैं कि दलित समाज में किसी भी रोग या जानवर के काट लेने से ओझा बुलाए जाते है जिसका उल्लेख करती हैं। "एक दिन आजी के भाई खेतों में जाने की तैयारी कर रहे थे कि उसी वक्त अचानक आजी के ससुराल वालों ने किसी आदमी को भेजकर खबर दी कि आजी के पति की मृत्यु हो गई। आजी के पति खेत के काम से फारिग होकर दोपहर का खाना खाने के बाद एक आम के पेड़ के नीचे सुस्ताने को लेटे और उनकी थोड़ी देर में आँख लग गई थी। ठीक उसी वक्त एक जहरीले साँप ने उन्हें डस लिया। गाँव में कोई डॉ.क्टर नहीं था। झाड़-फूँक करने वाले ओझा को बुलाया गया परंतु कुछ फायदा नहीं हुआ और वे चल बसे। आजी के मायके और ससुराल में भी रोना-पीटना शुरु हो गया था। भाई-भाभी को रोता देखकर वह भी रो रही थीं और टुकुर-टुकुर सबकी ओर देख रही थी।"[94] साँपों के काटने को लेकर आज भी गाँवों में झाड़-फूँक अभी भी किया जाता है। जिससे कई लोगों की मृत्यु हो जाती है जबकि अब सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों पर इसके इलाज की सुविधाएँ मिल रही है। लेकिन एक अंधविश्वास लोगों में चला रहा है कि साँप झाड़-फूँक से ठीक होता है। साँपों में कई प्रजातियाँ होती है जिसको काटने से मनुष्य की मृत्यु नहीं हो सकती है, कुछ प्रजातियाँ ऐसी हैं जिनके काटने से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। अतः कुछ व्यक्ति तो बिना इलाज के भी ठीक हो सकते हैं, तब यह मान लेते हैं कि झाड़-फूँक के द्वारा ही यह ठीक हुआ है। इसीलिए लोगों का विश्वास भी बना हुआ है।

दलित समाज ही नहीं पुरे समाज में मान्यता है कि जब व्यक्ति को बच्चा पैदा न हो तो भगवान के यहाँ मनौती मानी जाती है जिससे बच्चा पैदा होता है। जबकि भगवान का बच्चे पैदा होने से कोई मतलब नहीं है। कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि "मेरा जन्म 8-9-26 को एक खलासी लाइन बस्ती में हुआ था। बड़ी बहन जनाबाई के बाद लगातार एक भाई और दो बहनों की मृत्यु हो गई थी इसलिए आजी और माँ शिवजी भगवान के मंदिर के बाहर खड़े होकर प्रार्थना की और भगवान से मन्नत माँगी कि अगर मैं दस वर्ष की हो जाऊँगी और मेरे बाद जो बच्चे पैदा होंगे वे जीवित और स्वस्थ रहेंगे तो वह शिवजी के मंदिर में जाकर बकरे की बलि देगी और मेरे वजन के बराबर चावल और गुड चढाएगी। तब बलि प्रथा हमारे अस्पृश्य समाज में चल रही थी। माँ और आजी ने मंदिर के बाहर से ही भगवान की लंबी आयु के लिए प्रार्थना की थी क्योंकि अछूतों को मंदिर में जाने की मनाही थी।"[95] दलित समाज में बलि एक आम धरणा है, इसे अंधविश्वास इसलिए कहा जाता है क्योंकि कोई भी कार्य करने के लिए व्यक्ति के काम जरूरी होते हैं। भविष्य के भरोसे या भगवान के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है इन अंधविश्वासों का मूल कारण अशिक्षा है। जिसका उल्लेख दोहरा अभिशाप में हुआ है। "कभी माँ को तो कभी बहन को बच्चा होता था। बहन की लड़की और मेरे भाई की उमर एक ही बराबर है, तीन एक महीने का फर्क होगा। बहन के एक मृत लड़के की उमर मेरी एक बहन की बराबर थी। माँ के बच्चा होने पर कभी जीजाजी मिलने आते थे, तो माँ को बहुत शर्म महसूस होती थी। उस समय खाना खाने, पानी पीने की तरह ही बच्चे होना भी सामान्य काम समझा जाता था। कहते, ये भगवान देता है, भगवान की मर्जी है, क्या करें! अशिक्षा, अज्ञान की वजह से ही उनकी ऐसी सोच थी।"[96] दलित समाज एवं पुरुषवादी समाज लड़के के लिए बच्चें पैदा करता है जिससे पालन-पोषण के लिए कोई साधन नहीं है। अशिक्षा के कारण समाज में जागरूकता भी नहीं थी। पहले बच्चे इसलिए भी ज्यादा पैदा किये जाते थे कि बच्चों की मृत्युदर अधिक थी। अतः अशिक्षा और अज्ञानता के कारण यह स्थिति है। उर्मिला पवार अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि "बाबा की मृत्यु के बाद हमारे घराने में चली आ रही वृत्ति अब शाहू करने लगा।

हमारे समाज में ऐसा माना जाता था कि जन्म लेने के बाद बच्चे को जब तक जाति-धर्म के संस्कार नहीं दिए जाते, समाज में मान्यता नहीं मिलती। इसलिए हर बच्चे को पाँच-छ: वर्ष की उम्र में गुरु की गोद में बिठाकर गुरुमंत्र दिया जाता था। गुरु बनने योग्य या तो वे व्यक्ति होते थे जो पैदल पंढरपुर जा कर जीवित वापस लौटे हों या फिर जिसके घराने में परंपरागत रूप से वृत्ति चली आ रही हो। 'गुरु' धार्मिक विधि-विधान के साथ-साथ भूत भगाने का भी काम करते थे। बारह वर्ष की उम्र से ही शाहू धार्मिक विधि करता आ रहा था। बाबा की ही तरह वह भी मंत्र पढ़ कर भूत उतरता था। लेकिन बड़े-बड़े भूत, जो खून की उल्टियाँ करवा के पलभर में आदमी को खत्म कर सकते थे या जीवन भर के लिए अपाहिज बना सकती थे इसे 'लोलंगी भूत' उतारने वाले बाबाजी भी खास होते थे।"[97] दलित समाज में मान्यताएँ, रीति-रिवाज केवल दलित समाज ही करता था। दलित समाज में धार्मिक परिवर्तन भी मिलता है जिस डॉ. भीमराव अंबेडकर के बौद्ध धर्म के स्वीकार के बाद ज्यादातर दलित हिंदू धर्म से बौद्ध धर्म स्वीकार रहे हैं। कई ऐसे भी हैं जो बौद्ध धर्म के स्थान पर इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म भी स्वीकार कर रहे हैं। अतः दलितों के यहाँ एक धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता उनकी मान्यताएँ उनकी रीति-रिवाज सबसे अलग हैं।

5.3 कथावस्तु एवं कथाशिल्प:

हिंदी साहित्य में आत्मकथा एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में है। जिसमें कल्पना का सहारा ना लेकर के यथार्थ चित्रण किया गया है। हिंदी साहित्य में आत्मकथा की प्रसिद्धि दलित साहित्य से मानी जाती है। दलित साहित्य में भी आत्मकथा मराठी भाषा में सर्वप्रथम लिखी गई। हिंदी साहित्य में 1980 के बाद आती है, हिंदी साहित्य की प्रथम आत्मकथा 'अपने-अपने पिजरे' मोहनदास नैमिशराय के जीवन चरित्र का वर्णन है। यह आत्मकथा मेरठ शहर के जीवन चर्या का वर्णन है। इस शहर की अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी रही है। मोहनदास नैमिशराय अपने मोहल्ले का वर्णन करते हैं कि शहर में अनेक बस्तियाँ हैं। सब बस्तियाँ जाति के आधार पर विभाजित है। मेरठ शहर में हिंदू के साथ-साथ मुस्लिम समुदाय में निवास करता है। मोहनदास नैमिशराय की बस्ती के बगल में मुस्लिम

समाज रहता है। मुस्लिमों का संबंध दलितों से बेहतर ही रहा है। किसी भी त्योहार या उत्सव में दलित मुस्लिमों के यहाँ से उपहारों का आदान-प्रदान होता है जैसे बकरीद में मांस और ईद में सेवई लेने के लिए दलित बस्ती के लोग उनके यहाँ जाते हैं। लेकिन जब शहर में दंगे होते हैं, तो दलितों को मुसलमान हिंदू समझते हैं और हिंदू इनको अपना बना लेते लेकिन जैसे ही दंगे ख़त्म होते तो हिन्दू दलित समझकर इनका शोषण एवं अत्याचार भी करते हैं। इसका उदाहरण उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया। इस आत्मकथा में विद्यालय में होने वाली असमानता का वर्णन भी करते हैं। एक तरफ तो अध्यापक बच्चों को अहिंसा और सामाजिक सुधार के बारे में बताते हैं तो दूसरी तरफ उनके साथ पिटाई और जातिवादी व्यवहार भी करते हैं। दलित साहित्य में यह मुख्य रूप में दिखाई देता है दलित चाहे जितना भी पढ़ ले फिर भी जातिवाद उनका पीछा नहीं छोड़ता है। मोहनदास नैमिशराय नौकरी की तलाश में दिल्ली तक की यात्रा करते हैं। लेकिन 1971 में स्नातक करने के बाद दिल्ली प्रशासन में क्लर्क की नौकरी हेतु लिखित परीक्षा पास की, लेकिन उन्हें नियुक्ति पत्र प्राप्त ना होने के कारण नौकरी नहीं मिलती है। जिसके कारण उनके पिताजी गुस्सा होते हैं। इसके बाद उन्हें मेरठ छावनी में क्लर्क की नौकरी के बाद इंटर कॉलेज में लेक्चरर नियमित नौकरी मिलती है। विद्यालय में अधिकतर शिक्षक आरक्षण के खिलाफ आग उगलते और अपना उनका व्यवहार शिक्षा विरोधी है और वह स्वयं तो पढ़ाते ही नहीं थे और दूसरों को पढ़ने पर हतोत्साहित भी करते थे। लेखक का विवाह दिल्ली में होता है। विवाह के पक्षधर एक दूसरे की संपत्ति का विश्लेषण करते हैं, जबकि यह एक पारिवारिक सामाजिक उत्सव है। विवाह में सभी सामान मिला लेकिन टीवी न मिलने के कारण परिवार के लोग दुखी होते हैं। और कहते हैं कि जैसे परिवार में नई बहू के आने से उजाला ही नहीं हुआ। मोहनदास नैमिशराय का संबंध अपनी पत्नी के साथ बेहतर नहीं रह पाता और वह बात में झिड़क देते हैं। यह स्वीकार करते हैं कि उनके अंदर भी एक पितृसत्तात्मक सत्ता निवास करती है जो उन्हें उस स्त्री पर अपना अधिकार जताने को कहती है। इनकी पत्नी के घर में सारी सुविधाएं थी लेकिन मोहनदास मोहनदास नैमिशराय के घर बिजली ही नहीं है। इस कारण उनकी पत्नी को ज्यादा तकलीफ होती है

तो इन्होंने दहेज के सामान लेकर की तिल्ली शिफ्ट कर जाते हैं। लेखक आगे कहते हैं कि विवाह दो परिवारों को जोड़ता है लेकिन मेरा विवाह ने मेरे परिवार को ही तोड़ दिया। जाति प्रथा की पीड़ा पूरी आत्मकथा में दृढ़ता पूर्वक सामने आई है। दलित चेतना को मराठी से हिंदी के साहित्य में लाकर जोरदार ढंग से उठाने वाले दलित आत्मकथाकार के रूप में सफल रहे है। अपने पारिवारिक दायित्व की अपेक्षा सामाजिक सक्रिय में अधिक रहें।

जूठन

भारतीय समाज के वर्तमान परिपेक्ष में जाति एक महत्त्वपूर्ण घटक है। सन 1997 में प्रकाशित ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचना जूठन भारतीय समाज के वर्ण व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था करने वालों के सम्मुख जातिवादी समाज के क्रूर और अमानवीय रूप को सामने रखा। आत्मकथा के प्रारंभ में दलित बस्तियों के त्रासदी का खुला चित्रणमिलता है। उन्होंने अनुभूतियों समाजवादी विचारों से परिचित कराया। जूठन निम्नस्तर पर जीवन यापन कर रहे समाज की अभिव्यक्ति है। जूठन में दलित विद्यार्थियों के साथ अध्यापकों केअमानवीय व्यवहार का भी वर्णन मिलता है। गाँव में विद्यालय के लिए जगह नहीं है इसलिए सवर्णों के घरों में विद्यालय चल रहे हैं, जहाँ पर दलित समाज के साथ जातिवादी व्यवहार किया जाता है। महाभारत में अश्वत्थामा द्वारा आटा के घोल को दूध के रूप में पीकर जीवन जीने की कला को समाज ने बहुत ही प्रेरक माना है जबकि दलित समाज तो दूध ही नहीं वह तो भोजन के लिए लड़ रहा है, मरे हुए जानवरों का मांस खा रहा है। ऐसे समाज से कोई प्रेरणा क्यों नहीं ले रहा है, इनकी मदद एवं सहयोग क्यों नहीं कर रहे हैं? जूठन आत्मकथा में ओमप्रकाश वाल्मीकि 'सलाम' प्रथा का जिक्र करते हैं जिसमें नवविवाहित पुरुष अपने ससुराल के उन घरों में सलाम करने जाता है जिनके यहाँ उनके परिवार के लोग काम करते हैं या सफाई करते हैं। इसी भांति लड़की भी जब ससुराल आती है तो उन घरों में जाकर सलाम करती है जिन घरों में उनके परिवार के

लोग काम करते हैं या सफाई करते हैं। इस प्रथा को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने परिवार की शादी में तोड़ा और सलाम प्रथा करने से मना कर दिया। दलित रचनाकार द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि दलित हिंदू हैं कि नहीं? और यदि हिंदू है तो उनके साथ इतना भेदभाव क्यों किया जाता है? आत्मकथा दलित समाज की आर्थिक दिक्कतों की ओर भी इशारा करती है। जिसमें दिन-रात मेहनत मजदूरी के बाद भी वह कर्ज में डूबे रहते हैं। दलित समाज अंधविश्वास और भूत-प्रेत में ज्यादा विश्वास करता है। अशिक्षा और अज्ञानता के कारण इससे छुटकारा नहीं पा रहा है। आत्मकथा समाज में व्याप्त जातिवाद और शोषण को रेखांकित करती है। जातिवाद का शिकार दलित समाज जरूर है लेकिन यह केवल दलित-पिछड़ों की समस्या नहीं है इसके विपरीत दलितों-पिछड़ों के अंदर जो जातिवाद है उनकी बात करता है। उन्हें दूर करने के उपाय के में डॉ.. भीमराव अंबेडकर के विचार को रखता है। जूठन आत्मकथा के दूसरे भाग में रचनाकार जब नौकरी प्राप्त कर लेता है तो शहर में रहने के लिए वह कमरे की तलाश करता है। उन्हें दलित जाति के कारण कमरा नहीं मिलता है लेकिन कुछ सवर्ण लोग उसकी मदद करते हैं, उन्हें कमरा दिलाने में उनके साथ-साथ जाते हैं। समाज में व्यक्ति महत्वपूर्ण है ब्राम्हण होकर भी वह दलितों का साथ दे रहे है। दलित-दलित होकर भी निम्न दलित का शोषण करता है। ब्राह्मणवादी सोच इसका मुख्य कारण है जब तक यह सोच समाज में व्याप्त रहेगी शोषण एवं अत्याचार होता रहेगा।

शिकंजे का दर्द

यह सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा है। जिसमें महिलाओं के प्रति समाज के नजरिये को दर्शाया है। महिलाओं के लिए शिक्षा के अधिकार न के बराबर थे लेकिन आजादी के बाद महिलाओं को भी यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वह भी शिक्षित हो सके। दलित समाज में यह समस्या और भी गहरी दिखाई देती है क्योंकि वहाँ पुरुष ही शिक्षित नहीं है तो महिलाओं की क्या बात की जाए।

लेकिन आजादी के बाद से महिलाएं शिक्षित हो रही थी। उसका प्रभाव दलित समाज पर भी देखने को मिल रहा है। सुशीला टाकभौरे जब शिक्षा प्राप्त करने विद्यालय में जाती हैं तो उनके साथ आदिवासी अध्यापक तो ठीक तरीके का व्यवहार करते हैं लेकिन सवर्ण अध्यापक का व्यवहार असमानता पूर्ण होता है। सुशीला शिक्षित होकर उच्च पद प्राप्त करते हैं लेकिन वहाँ भी जाती है तो जाति उनका पीछा नहीं छोड़ती है। तो उनके मन में ख्याल आता है कि जैसे मेरी नानी सफाई करती थी तो वह भी जाति का दंश झेल रही थी, और मैं भी उच्च पद प्राप्त करने के बाद अगर जाति का दंश झेल रही हूँ तो मुझ में और मेरी नानी के जीवन में क्या अंतर है। लेखिका पहले स्कूल शिक्षक और बाद में प्राध्यापिका नियुक्त होकर निरंतर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक के लिए सक्रिय रही। समाज का सम्यक विकास स्त्री-पुरुष की समान सहभागिता से होता है, लेकिन भारतीय समाज स्त्री-पुरुष के संबंध को कभी समान स्वीकार ही नहीं करती है तो विकास की बात ही नहीं की जा सकती। भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ पुरुषों को सारे अधिकार प्राप्त हैं और महिलाओं को केवल काम करने के लिए ही रखा गया है। सुशीला शिकंजे की बात करती हैं जिसमें एक महिला धीरे-धीरे फँसती चली जाती है और फँसाने का कारण परिवार के लोग हैं। जो महिलाओं का विवाह दुगनी आयु के पुरुषों के साथ कर देते हैं। यही सुशीला के साथ भी हुआ और घर में मारपीट एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई बात के समय में सुशीला ने सोचा कि जुल्म करने वाले से जुल्म सहने वाला ज्यादा गुनाहगार है। पारिवारिक एवं घरेलू कामों पर उन्हें अपमानित एवं प्रताड़ित किया जाता और वह चुपचाप सहती। पितृसत्तात्मक व्यवहार में उत्पीड़ित महिला इसे अपना भाग्य समझ कर झेलती हैं। स्त्रियाँ बहुआयामी शोषण का सामना करने को मजबूर हैं। उनके शोषण को मर्यादित बना दिया गया है जिसके पीछे दंड विधान काम करते हैं। रचनाकार ने उस शिकंजे को भी बताया है। शिकंजे को तोड़ने की व्यवस्था भी बताई है। यह व्यवस्था डॉ.. भीमराव अंबेडकर के लोकतांत्रिक विचार को अपनाने की प्रक्रिया है। जिससे जीवनस्तर बदलेगा और शोषणकारी मानसिकता कमजोर होगी। जाति व्यवस्था कब खत्म

होगी इस पर लेखिका कहती है कि जब इसकी पहचान की कोई कीमत ना रह जाए, जातिगत और लिंगगत भेदभाव ही शिकंजे को मजबूत कर रहे हैं।

दोहरा अभिशाप

दोहरा अभिशाप आत्मकथा में रचनाकार ने अपने माता-पिता के जीवन संघर्षों के विषय में बताया है। दलित समाज में शिक्षा के प्रति चेतना नहीं दिखाई देती है लेकिन कौशल्या बैसंत्री के माता-पिता उन्हें पढ़ाना चाहते हैं और एक बेहतर जिंदगी देना चाहते हैं। दलित समाज के छात्र विद्यालय जीवन में हीन भावना का सामना करते हैं। महिलाओं के साथ छेड़छाड़ की घटनाएं समाज में आम होती हैं। ऐसी ही एक घटना का जिक्र कौशल्या अपनी आत्मकथा में करती हैं कि एक लड़का उन्हें रोज परेशान करता है लेकिन एक दिन वह उनकी फोटो और अपनी फोटो एक साथ लगा देता है। जिससे कौशल्या बैसंत्री को गुस्सा आ जाता है तो वह उसकी पिटाई सड़क पर ही कर देती हैं। लेकिन यह साहस एक लड़की ने बहुत ही कम दिखाई देती है। छेड़खानी का शिकार आज भी समाज में लड़कियाँ हो रही है जिसमें लड़कियों को ही दोषी ठहराया जाता है। आज भी समाज पितृसत्तात्मक समाज के बस में ही दिखाई देता है। लेखिका की नानी के संघर्ष को दिखाया जा सकता है। वह विधवा होने के बाद दूसरी शादी करती हैं लेकिन उस व्यक्ति से संबंध ठीक न होने के कारण अपने तीनों बच्चों के साथ शहर की तरफ बिना किसी को बताए चल पड़ती हैं। रास्ते में उनकी एक पुत्री को तेज बुखार होने के कारण मृत्यु हो जाती है, लेकिन तब भी उनका विश्वास नहीं डोलता है। भारतीय समाज एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करता है जिसमें महिला अपनी पुत्री की मृत्यु की वेदना से बढ़कर इस सामाजिक शोषण को मानती है। इससे मुक्त होना चाहती है। महिला पुरुष की लंपटता से दुखी तो थी ही साथ ही समाज में बाल-विवाह की प्रथा की अनेक समस्याएं भी इनको झेलनी होती थी। पांच-सात साल की उम्र में ही विवाह हो जाना और गवना जल्दी हो जाने के कारण भयंकर बीमारियों से

मृत्यु हो जाती थी। पुरुष तो दूसरा विवाह कर लेता था। लेकिन महिला जो विवाहित होती थी उसके लिए संकट खड़ा हो जाता था। परिवार स्त्री-पुरुष की समझदारी से चलते हैं। लेकिन पुरुष इस पर पूरा अपना एकाधिकार चाहता है। जिसका उल्लेख आत्मकथा में करती हैं कि पुरुष (पति) आर्थिक नियंत्रण भी करता है जिस कारण परिवार में समानता का भाव नहीं रह जाता। लेखिका ने आत्मकथा में सामाजिक आंदोलनों और उनके प्रभावों की भी चर्चा की है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के वैचारिक जीवन का प्रभाव रचनाकार पर दिखाई देता है। आत्मकथा महिलाओं के सामाजिक एवं संवैधानिक अधिर की बात करती है जिसमें समाज के यथार्थवादी स्वरूप की चर्चा भी करती है।

मेरा बचपन मेरे कंधों पर

श्यौराज सिंह बेचैन ने 'मेरा बचपन मेरे कंधों' पर आत्मकथा के शीर्षक से यह प्रतीत होता है कि बचपन से ही उनके जीवन की जिम्मेदारी उन पर ही थी। आत्मकथा में यह बात साबित होती है कि इनके पिता की मृत्यु के बाद इनकी माँ जब दूसरी शादी करती हैं, तो सौतेला बाप इन्हें अपना नहीं स्वीकार करता है। जिससे यह अपने माता के पास रहे या अपने पिता के घर रहें इस बात से हमेशा परेशान रहे। इस छोटी सी उम्र में ही जीवन अस्थिर हो जाता है जिसमें अपने जीवन जीने के लिए वह मजदूरी और बेगारी भी करते है। बेचैन अपनी आत्मकथा में चमार एवं जाटवों के बीच के जाति के अंतर की बात करते हैं। जाति से श्रेष्ठता का बोध अभी भी समाज में बना हुआ है जब तक यह श्रेष्ठता का बोध खत्म नहीं होगा। तब तक जाति समाज में बना रहेगा। शिवराज सिंह बेचैन शिक्षा प्राप्त करने के लिए अदम्य जिजीविषा का परिचय देते हैं। और पोस्ट ग्रेजुएशन तक की पढ़ाई प्राप्त करते हैं।

मुर्दहिया और मणिकर्णिका

मुर्दहिया आत्मकथा में तुलसीराम की पहली ही लाइन पूरी आत्मकथा को परिभाषित करती है की 'मूर्खता हमारी जन्मजात विरासत है' अज्ञानता, अशिक्षा ही उन्हें अंधविश्वास की ओर ले जाती है। जिससे उनके दादा की मौत एवं एक उनकी आँख भी चली जाती है। तुलसीराम की आत्मकथा सात भागों में विभक्त है। आत्मकथा एक प्रेरणा के रूप में आती है कि जिसने जीवन में संघर्ष किया या परिस्थितियों से संघर्ष किया वही आगे बढ़ा है। मुर्दहिया शब्द धरमपुर गाँव के श्मशान का नाम है जहाँ पर हमेशा डर का माहौल बना रहता है। अज्ञानता एवं अंधविश्वास की ग्रामीण जीवन की झलक मुर्दहिया आत्मकथा में देखने को मिलती है। यह अंधविश्वास केवल दलितों तक ही सीमित नहीं दिखाई देता, इनकी आत्मकथा में ब्राह्मणों में भी दिखाई देता है जब सुदेश्वर पांडे की माता का देहांत हो जाता है, तो खरमास होने के कारण क्रियाकर्म नहीं किया जा सकता है इसलिए 15 दिन के लिए लाश को दफना दिया और खरमास ख़त्म होने के बाद क्रियाकर्म किया जायेगा। ग्रामीण परिवेश में बीमारियों से बचने के लिए अनेक रूढ़िवादी तौर-तरीके अपनाते हैं। लेकिन दवाइयाँ नहीं लेते है। अंधविश्वास एवं अनपढ़ ग्रामीण समाज के कारण मनोविकार उत्पन्न हो जाने से भूत-प्रेत, चुड़ैल से बचने के लिए ओझा की खोज करते हैं। भूत- भगाने का प्रयास करते हैं। केवल या छुआछूत गाँव में ही नहीं बल्कि विद्यालयों में भी साफ-साफ दिखाई देता है। लेखक के पिता गाँव के ब्राह्मण की हरवाही करते हैं, अंधविश्वास के कारण वह कहते हैं कि अगर मैं हरवाही छोड़ दूँगा तो मुझे पाप लगेगा। व्यक्ति ने एक स्थाई भाव के रूप में यह बात स्वीकार कर ली है। यह आत्मकथा ग्रामीण संस्कृति के चेहरे को व्यक्त करती है, जिसे लोग महान कह कर भी नहीं थकते हैं। जीवन-जगत के समाजशास्त्रीय पहलू को घटित करती है। आत्मकथा का मुख्य पक्ष उसका सौंदर्य विधान है जिसमें लोकरंग और लोकभाषा के रूप दिखाई देता। मणिकर्णिका मुर्दहिया का ही अगला भाग जिसमें तुलसीराम ने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के सांस्कृतिक, आर्थिक एवं वैचारिक बाधाओं और मानवीयता तार-तार करने वाले सामाजिक विषमताओं साम्यवादी को रेखांकित किया है। आत्मकथा में ही यह दिखाती है कि कैसे व्यक्ति भूखा रहकर भी पढ़ाई के प्रति सजग है। दलित समाज की आर्थिक स्थिति

ठीक न होने के कारण वह अपने बच्चों को बाहर भी नहीं भेजते थे। पढ़ने के लिए लेकिन तुलसीराम अपने अथक परिश्रम के बल पर मेहनत-मजदूरी करके यहाँ तक पहुँचते हैं। अपनी शिक्षा जारी रखें लेकिन बनारस जैसे शहर में जहाँ यह कहा जाता है कि लोग भूखे नहीं रहते वहाँ पर तुलसीराम कई कई दिन भूखे रहते हैं। जाति के कारण उन्हें घर नहीं दिया जाता है तो वह जाति छुपाकर भी रहते हैं। उनके सहयोगी गोरखनाथ पांडे और अन्य लोग इनके साथ हो रहे अन्यायपूर्ण व्यवहार का विरोध करते हैं। तुलसीराम बी.एच.यू. में आने के बाद की वैचारिक दृष्टि बदलती है। छात्र संघ चुनाव के दौरान बढ़ चढ़कर हिस्सा लेते हैं। कम्युनिस्ट पार्ट के वैचारिकी को समझाते हैं और कि कम्युनिस्ट आंदोलन की नजर नागरिकों की सभी समस्याओं का समाधान आर्थिक साधनों पर ही संभव है, लेकिन भारत में आर्थिक संसाधन कुछ उच्च जातियों के नियंत्रण में है तो यह भारतीय परिपेक्ष में कैसे लागू हो सकता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों से भी प्रभावित होते हैं और कम्युनिस्ट आंदोलन विचारों से अपने आप को दूर करने लगते है। तुलसीराम समाज में भेदभाव, अहिंसा और अत्याचार के खिलाफ खुलकर बोलते हैं। इस आत्मकथा में तुलसीराम ने अपने जीवन के प्रेम के विषय में भी बताते है कि जाति के कारण ही बिछड़ने का सामना भी करना पड़ा। तत्कालीन समाज में घटित दलित उत्पीड़न हिंसा पर विस्तार से जानकारी भी देते है। शेरपुर कांड ने गाँव के कुर्मी जाति द्वारा दलित बस्ती में आगजनी हथियारों से हमला करने से पाँच व्यक्तियों को मार दिया। तुलसीराम आपातकाल, वियतनाम युद्ध हो और समकालीन घटनाओं का जिक्र अपनी आत्मकथा में करते हैं। आत्मकथा उनके जीवन के साथ समाज में घट रही घटनाओं का एक विस्तृत वर्णन है।

जीवन हमारा

बेबी काम्बले द्वारा लिखित मराठी आत्मकथा का हिंदी अनुवाद ललिता अस्थाना द्वारा किया गया। आत्मकथा में महाराष्ट्र के वीरगाँव के महार जाति के जीवन की आर्थिक, सामाजिक एवं

सांस्कृतिक वास्तविकता जीवन के चित्रण मिलते है। जिससे उस समुदाय की गरीबी, गुलामी और यातना की तस्वीरें सामने आती हैं। लेखिका की जाति महार है, उपजाति डोम समाज है। लेखिका अपने विषय में बताते हैं कि जब वह एक साल की थी तभी उन्हें बुखार हो गया। तो बुखार उतर नहीं रहा था यह लगभग दस पंद्रह दिन तक रहा। एक दिन शाम छ: बजे उनका शरीर ठंडा पड़ने लगा। माँ एवं परिवार वाले और रोने लगे, बेटी को दफनाने का निर्णय लिया। लड़की को दफनाने के लिए गड्ढा खोद दिया गया था लेकिन माँ की प्रार्थना थी कि उससे पहले जितनी भी लड़कियाँ उनकी मृत्यु हुई थी। वह रात में ही दफन आई गई थी, तो मैं इसे रातभर अपने गोदी में रखना चाहती हूँ। सुबह इसको दफनाया जाए, सुबह होने पर लेखिका ने आँखें खोली उसका जैसे दूसरा जन्म हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि बीमारी के कारण डोम समाज में कई बच्चे जिंदा ही दफना दिए गए हैं। बेबी अपने समाज की स्थिति के संबंध में लिखा है कि उनके वीरगाँव में दलितों के कुल मिलाकर 15-16 घर थे। वे लिखती हैं कि उनमें 2-3 घर की आर्थिक रूप से थोड़े संपन्न थे बाकी सारे घर कीचड़ मिट्टी से मिलकर बने है। छोटे-छोटे घर पर दरवाजे पर पानी पीने के लिए मिट्टी का बड़ा घड़ा, लेकिन उसका मुँह एकदम छोटा इसलिए उसे केली कहते है। उसके केली के मुँह पर नारियल की खोपड़ी का आधार टुकड़ा रखा होता, उसमें तीन छेद बने होते दो को उंगली से बंदकर तीसरे छत पर अँगूठा लगाकर वहीं से गट-गट पानी थे। दरवाजे के पास टूटा-फूटा चूल्हा, चूल्हे के पास तो मिट्टी के बर्तन, लकड़ी का चम्मच, बीच से फटा लोहे का तवा, आटा गूँथने के लिए लकड़ी की परात, रोटी पलटने के लिए लोहे का लंबा हाथ जैसा पतरा, एक कोने में आटा पीसने की चक्की। चूल्हे के ऊपर रस्सी। यह रस्सी हमारे लिए जनेऊ की तरह पवित्र होती है। हमारे जन्म की निशानी होती, उस पर मरे हुए जानवरों की खाल सुखाने के लिए डालते थे। दूसरे कोने पर मैला-कुचैला, फटा हुआ बिस्तर। दलित समाज रोटी के लिए भी बड़ी दिक्कतों का सामना करता रहा होगा और डोम समाज की सामाजिक, आर्थिक स्थिति का वर्णन दिखाई देता है। रहने के लिए इनके घर व्यवस्थित नहीं हैं। काम्बले आगे बताती हैं कि आषाढ़ की पूरे चारों सप्ताह बस्ती में खुशी की लहर होती थी। हर मंगलवार और शुक्रवार डोम मंदिर में जाते

तो वहाँ से गाँव वाले जो पकवान चढ़ाते, उसे लेकर आते थे। फिर उसे गाँव लाया जाता और बराबर-बराबर सब में बाँटा जाता है। इस प्रकार उनके जीवन के सुख में आषाढ़ के महीने में ही आते हैं। क्योंकि खाने के लिए पर्याप्त सामान मिल जाता, आज भी महाराष्ट्र में बहुत जिलों में दलितों के जीवन की खुशियाँ लाने वाला महीना आषाढ़ ही है। आषाढ़ के महीने में गाँव में देवी-देवताओं के मेले लगते हैं। बेबी काम्बले महाराष्ट्र में दलितों की स्थिति के विषय में बताती हैं कि रास्ते पर चलते समय अगर कोई भी सवर्ण दिख जाता था तो उसके लिए रास्ता छोड़कर बगल में खड़ा होकर उन्हें अभिवादन करना होता था। फिर चाहे वह उम्र में छोटा हो या चाहे बच्चा ही क्यों ना। अगर ऐसा नहीं करते हैं तो उन्हें गालियाँ और मारा भी जाता था। दलित समाज जाति व्यवस्था से प्रताड़ित रहा। इसके विरोध में बेबी काम्बले कहती है कि जब खेतों में अनाज की कटाई के वक्त डोमनियों के पैर या जिस्म का पसीना अनाजों में लगता है तो भी तुम्हारे पकवान अपवित्र नहीं होते। हमारी मेहनत से तुम्हारी हवेलियाँ तैयार होती हैं, तो उसमें सड़न पैदा नहीं होती है। फिर हमें छू लेने मात्र से ही तुम कैसे अपवित्र हो जाते हो। डॉ. भीमराव अंबेडकर का प्रभाव बेबी काम्बले पर दिखाई देता है। भगवान की पूजा के संबंध में भी कहती है कि जिस प्रकार महिलाएं धार्मिक कर्म करने में आती है उसी प्रकार महिलाएं बच्चों को शिक्षित करने के लिए आगे आना होगा। हमें पूजा पाठ न करके अपने बच्चों को शिक्षित करना होगा तभी इस गुलामी से मुक्ति मिलेगी। दलित समाज में स्त्रियों की भी स्थिति दासी से कम नहीं है। आदमी अपनी औरत को जानवरों की तरह मारता है। कोई बेहोश हो जाती किसी की कमर टूट जाती, इतना मार खाने पर भी किसी को तरस नहीं आता है। लेकिन औरतों के साथ बहुत ही अन्याय हुआ है। महिलाऐं पुरुषों पर ही आश्रित कर दी गई है, कुछ जगहों पर तो औरतें ही औरतों की दुश्मन बनी। जीवन हमारा शीर्षक आत्मकथा समाज के यातना भरे जीवन को दर्शाता है। दलितों के जीवन के संघर्ष ही नहीं उनकी मुक्त की प्रेरणा भी देता हैं। भीमराव अंबेडकर के विचार दलित नवयुग जागृति का संदेश इस आत्मकथा में मिलता है।

उठाईगीरी

साहित्य अकादमी पुरस्कार लक्ष्मण गायकवाड की आत्मकथा मराठी में प्रकाशित हुई। बाद में राधा कृष्ण प्रकाशन में उठाईगीरी नाम से हिंदी में प्रकाशित हुआ। मराठी भाषा में इसकी सीमाएं थी लेकिन हिंदी भाषा में आने के बाद यह बहुत प्रसिद्ध हुई। लेखक लक्ष्मण गायकवाड तेलुगु के 'संतामुच्चर' जाति से है जिसमें संता का अर्थ है 'बाजार' और मुच्चर का अर्थ है 'चोर'। अर्थात बाजार में चोरी करने वाला, महाराष्ट्र में इस जाति के कई नाम है। लक्ष्मण गायकवाड के अपनी जाति के विषय में लिखा है। जिस समाज में मैं जन्मा जिसे यहाँ की वर्ण व्यवस्था ने नकारा हो, इस व्यवस्था हमें सैकड़ों नहीं हजारों वर्षों से मनुष्य के रूप में जीवन जीने न दिया हो और पशुपत जीवन जीने के लिए मजबूर किया है। अंग्रेज सरकार ने तो गुनहगार का ठप्पा हमारे समाज पर लगा दिया और सब ने हमारी ओर गुनाहगार के रूप में ही देखा। आज भी उसी रूप में देखा जाता है। हमें कोई काम पर नहीं रखता है, खेती करने के लिए जमीन भी नहीं है इस कारण चोरी करके जीना ही एकमात्र उपाय हमारे सम्मुख शेष रह गया। लेखक में छुटपुट चोरियों एवं उठाईगीर लोगों के जीवन चरित्रों का वर्णन किया है। जिसमें चोरी के विशिष्ट पद्धति, चोरी के प्रकार का प्रसंग सहित जानकारी दी है। इसके साथ ही अज्ञानता, अंधविश्वास आत्मकथा का मुख्य विषय है।

अछूत

ऐसे लोग जिसे समाज में कोई स्पर्श न करता हो। गाँव में महारों का कोई टाइम टेबल नहीं होता 24 घंटे की नौकर होती। इसे बेगार कहना कहते है। बलुतं दलितों से लिए जाने वाले काम के बदले मजबूरी है। मगर यह एक तरह भी है जो उन्हें उनके किये गए काम के बदले नहीं दी जाती है। बल्कि गाँव में जाकर माँगना पड़ता है। जिसमें रोटी और अनाज दिया जाता है। यह एक प्रकार की अमानवीय प्रथा है जो दलितों के मानवीय सम्मान में और आत्मविश्वास को ठेस पहुंचाती है। स्त्रियाँ

अपने कर्तव्य को लेकर ईमानदार होती है, वह अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए दिन-रात परिश्रम करती हैं लेकिन पुरुष लेकिन शराब एवं अन्य गलत आदतों में ग्रसित दिखाई देते हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था कि महारी के मन में अपने बेटे के लिए कौन से सपने होते हैं यही कि वह चपरासी और सिपाही बन जाए। लेकिन एक ब्राह्मणी के मन में यह सपना होता है कि उसका बेटा कलेक्टर बने। ऐसी इच्छा महारी माँ क्यों नहीं रखती हैं। इसी भाषण को याद करके उनके परिवारवालों ने उन्हें पढ़ाया। डॉ. भीमराव अंबेडकर के प्रभाव दलित समाज पर दिखाई देने लगे। दलित अपने घर से देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बाहर कर दी। दलितों की पारिवारिक जीवन स्थिति के विषय में भी दया पवार ने बताया कि उनकी माँ के साथ उनकी पत्नी के संबंध में सही न होने के कारण उनकी माँ उनकी पत्नी को उसके मायके छोड़ आती है। जिससे लेखक बहुत निराश होता है और एक मुस्लिम लड़की सलमा के संपर्क में आ जाता है। इससे लेखक के जिंदगी जीने की तमन्ना जागृत हुई। माँ के मरने पर लेखक की जिंदगी उजाड़ हो गई। बकुला की कभी-कभी याद आती, परंतु सई ने अपना रास्ता चुन लिया था उसने किसी एक अधेड़ व्यक्ति से शादी कर ली। इसके उपरांत लेखक ने दूसरी शादी कर ली और दगड़ू का दया बन गया। प्रतिष्ठा मान सम्मान मिला पैसा मिला परंतु लेखक अपने कर्तव्य नहीं भूला लेखक ने बकुला की शादी का सारा खर्चा जिम्मेदारियां उठाई।

अक्करमासी

जातिव्यवस्था हिंदू समाज की ऐसी चारित्रिक विशेषताएं जो अन्यत्र नहीं मिलती। शरणकुमार लिंबाले द्वारा लिखित मराठी आत्मकथा 25 सालों के दरमियान उनका चित्रण है। शरणकुमार लिंबाले की माँ और पिता लिंगायत, इस आधार पर शरणकुमार लिंबाले की जाति क्या थी? यह पता नहीं शरणकुमार लिंबाले नाजायज औलाद है यह कोई साबित नहीं कर सकता यह केवल उनकी माँ ही बता सकती है। कोई नहीं शरणकुमार के पिता हणमंता लिंबाले लिंगायत, माँ मसा एमआर माय महार,

बाद में हन्नूरगाँव के यशवंतराव पाटील की रखैल बनी और फिर इस यशवंतराव पाटील से उसने आठ संतानों को जन्म दिया। दादा मुसलमान थे-महमूद दस्तगीर जमादार। लेखक का गाँव महाराष्ट्र-कर्नाटक सीमा पर था। माँ संतामाय की इकलौती संतान थी। माँ का विवाह विट्ठल काम्बले नामक एक गरीब आदमी से कर दिया गया। जो हणमंता लिंबाले के यहाँ सालाना मजदूरी करते थे। विट्ठल कांबले खेत में काम करते, हणमंता लिंबाले की नजर इनके माँ पर पड़ गई। विट्ठल ने माँ को घर से निकाल दिया। परित्याग औरत के सिर पर आँचल नहीं होने के कारण अकेले जीवन जीने का निर्णय लिया। बाद में हणमंता लिंबाले का हाथ थाम लिया। माँ गर्भवती हुई लड़का हुआ लड़के का बाप कौन हणमंता लिंबाले को माँ का शरीर चाहिए था। माँ के इस लड़के के नाम के साथ अगर हणमंता लिंबाले नाम लग जाता तो उसकी बदनामी होती। माँ ने जिस बच्चे को जन्म दिया उसका नाम शरणकुमार। इस प्रकार शरणकुमार का जन्म हुआ और वह अपनी दादी संतामाय के पास रहने लगा। शिक्षा प्राप्त करने के बाद शरणकुमार लिंबाले टेलीफोन विभाग में नौकरी प्राप्त कर लेते हैं। इनके सामने भी यही समस्या आती है कि जाति के कारण ही कमरा किराए पर नहीं दिया जाता है। लेखक के विवाह के लिए भी समस्याएं उत्पन्न हुई, लेकिन मुश्किल से कुसुम के साथ हो गया क्योंकि लेखक को कोई लड़की ही नहीं दे रहा था। लेखक का जीवन भयावह से कम नहीं है जिसमें दरिद्रता, अत्याचार, अपमान, गाली-गलौज, मारपीट सब है। सभी अनुभव को लिया अपने जीवन के 25 साल के तमाम उलटफेर भरे जीवन का लेखा-जोखा सबके सम्मुख रखा है। शरण कुमार लिंबाले की त्रासदी भरा जीवन दिल दहला देने वाला है।

यादों के पंछी

यादों के पंछी शीर्षक आत्मकथा लेखक प्रहलाद सोनकांबले ने अपने जीवन के 25 साल के अनुभव को रेखांकित किया हैं। अपने संघर्ष में जीवन अनुभवों को लिखने का प्रयास किया।

मराठवाड़ा के लातूर जिले के उदयपुर तहसील में लेखक सोनकांबले का जन्म हुआ। इनके गाँव में कन्नड़ बोलने वाले अधिक हैं। लेखक की माँ की मृत्यु हो जाने के कारण वह अपनी बड़ी बहन के साथ उनके ससुराल में जाकर रहने लगता है । दीदी उसे बहुत काम कराती हैं, मृत जानवरों के मांस लेने के लिए भेजती हैं, ब्राह्मणों के घर गोबर उठाना, दीदी के घर में साफ-सफाई करना, स्कूल जाना, उनका मुख्य कार्य था। गाँव में सभी की आर्थिक स्थिति खराब थी इस कारण बहनोई नहीं चाहता कि सोनकांबले आगे पढ़े इसलिए मना कर देता है। लेखक ने खुद ही मेहनत-मजदूरी करते हुए मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेते हैं। सोनकांबले कभी आम के पेड़ों की रखवाली करते, कभी मूंगफली की और कभी कपास की इनका कभी रोटी माँगकर कभी पत्थर तोड़कर कभी लकड़ियाँ चीरकर कभी मरे हुए जानवरों की खबर, कभी सवर्णों की बहू को उनके मायके से लाने का काम करते। इससे पैसा इकट्ठा करके अपनी शिक्षा अर्जित करते। आगे की पढ़ाई के लिए यह गाँव में घूम-घूम कर चंदा इकट्ठा करके औरंगाबाद के मिलिंद कॉलेज में पढ़ाई के लिए चलें और बाद में अंग्रेजी के प्राध्यापक बने। दलित पढ़-लिख कर चाहे जितना उच्च पद पर पहुंच जायें लेकिन उन लोगों की मानसिकता में बदलाव नहीं आता।

साहित्य समाज का प्रतिबिंब होता है। साहित्यकार समाज के वास्तविक भाषा के माध्यम से पाठकों तक पहुँचने का प्रयास करता है। भाषा, साहित्य की महत्वपूर्ण शिल्प माना जाता है। भाषा, लेखक और पाठक के बीच पुल का काम करता है, इसलिए साहित्य में भाषा बहुत महत्वपूर्ण होती है। भाषा के कारण ही रचनाकार की अभिव्यक्ति प्रकट होती है। दलित साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। हिंदी तथा मराठी के विद्वान आलोचक तथा समीक्षकों ने दलित भाषा पर बहुत ही आरोप लगाए हैं। कुछ विद्वानों ने कहा है कि दलितों की भाषा प्रमाणित नहीं है, वह अश्लील एवं आक्रोशित है। परंतु जिसका घर जल रहा हो जिसके जीवन पर ही प्रश्नचिन्ह हो, उससे मधुर भाषा की उम्मीद कैसे की जा सकती है।

हिंदी व मराठी की दलित आत्मकथा का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि सभी दलित लेखकों ने अपनी आत्मकथा में अपने-अपने समाज में बोली जाने वाली देहाती और गाँव की बोली का प्रयोग किया है। लेकिन जैसे आत्मकथा आगे बढ़ती है तो भाषा से लोक तत्व कम हो जाते है। दलित पढ़-लिख लेने के बाद नौकरी और व्यवसाय के कारण जब महानगरों में आ जाते हैं, तो उनकी भाषा में प्रमाणिकता के पक्ष भी दिखाई देते हैं, इसलिए हिंदी और मराठी दलित आत्मकथा में देहाती, शहरी भाषा के मिश्रण मिलते हैं। दलित लेखक जिस समाज में पैदा हुआ है, दुख-सुख का अनुभव किया उस समाज की परंपरा, त्यौहार, उत्सव, श्रद्धा, अंधश्रद्धा आदि का प्रभाव लेखक पर होने के कारण वह उस समाज की भाषा को ही अपनाता है। यदि दलित लेखक अपनी आत्मकथा साहित्य में प्रमाणिक भाषा का प्रयोग करें तो उनके कारण जीवन में संघर्ष होगा वह यथार्थ तथा समाज के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाएगा। दलित साहित्य में भाषा ही दलित साहित्य की आत्मा है, भावनाओं की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही हो सकती है। वह सीधे पाठक तक पहुँच सकती है। अनुभव के साथ भाषा का बहुत गहरा संबंध है। दलित जीवन के अनुभव के साथ वह भाषा भी आती है, जिसमें दलित अब बिना इच्छा और मजबूरी में जीते हैं। रचनाकार जिस भाषा में जीते मरते हैं, उसी स्थिति और लोगों की अभिव्यक्ति करते हैं। दलित आत्मकथा में मुहावरों का प्रयोग देखने को मिलता है। 'अछूत'- 'छठी का दूध याद आना' 'एक घाव दो टुकड़े' 'खुद के भीतर अंधेरा दूसरों को क्या ज्ञान सिखाना' 'नंगे से खुदा डरे' 'दो पैसे की मुर्गी और चार आने का मसाला' 'जीवन हमार'-'घोड़े बेच कर सो रहा' 'अक्करमाशी' -'खार खाना'

'जूठन' मन के भीतर कांटे, सीने में चाकू, माँ की आंखों में दुर्गा तीर की तरह, घुटनों में सिर, अपने-अपने खोल, काँच पर खींची लकीर, जलन से फफोले जुल्फों से तेल, आँखों की किरकिरी, नजरों में खटकना, 'अपने-अपने पिंजरे' रोज कुआँ खोदना, रोज पानी पीना, बिना आंसुओं के रोना।

दलित रचनाकार में दलित साहित्य में सरल, सहज भाषा, ग्रामीण बोली, गाली-गलौज की भाषा, आक्रोश, आक्रोशित भाषा, अनुकूल भाषा, वैचारिक भाषा का प्रयोग इनकी रचना में दिखता

है। साहित्य में प्रतीकों का बहुत ही महत्त्व होता है। लेखक प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करता है। दलित आत्मकथा में अपने समाज के शोषण, अन्याय, अत्याचार को यथार्थ रूप में चित्रित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। हिंदी आत्मकथा अपने अपने पिंजरे में अपनी बस्ती, गाँव, जूठन, जूठन का तात्पर्य, उसके शब्द से ही प्रतीत होता है। मुर्दहिया, मणिकर्णिका से समाज के यथार्थ के रूप को परिभाषित करती हैं। शिकंजे का दर्द पितृसत्तात्मक एवं सामाजिक शिकंजे को दर्शाता है। अक्करमासी अवैध संबंधों से उभरी नाजायज औलाद की कहानी कहता है। उचक्का जाति विशेष को रेखांकित करता है। अछूत अस्पृश्य समाज की दर्दनाक कहानी की ओर इशारा करता है। यह सभी आत्मकथाएं प्रतीकात्मक है आत्मकथाएं प्रतीक के रूप में संपूर्ण समाज की वेदना को संजोये हुए हैं।

सन्दर्भ सूची:

1. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 5
2. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 16-17
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 11
4. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 85
5. डॉ. तुलसीराम, मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 9
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 87
7. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 13
8. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 46-47
9. वही, पृष्ठ 178
10. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 11
11. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 25
12. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 35
13. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 9
14. कांबले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललिता अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 115.
15. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 15
16. वही, पृष्ठ 96
17. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 11
18. वही, पृष्ठ 134
19. वही, पृष्ठ 142
20. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन दूसरा खंड; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 83-84.
21. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 14
22. वही, पृष्ठ 62
23. डॉ. तुलसीराम; मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 43
24. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 36-37
25. वही, पृष्ठ 41
26. वही, पृष्ठ 51

27 वही, पृष्ठ 135-136
28. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 73
29. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 122-123.
30. सोनकाम्बले, प्र. ई.; यादों के पक्षी; अनु. डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004; पृष्ठ 24
31. लिंबाले, शरणकुमार; अक्करमाशी, अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 44
32. वही, पृष्ठ 77
33. कांबले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललिता अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 65
34. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ.. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 48
35. वही, पृष्ठ 63
36. वही, पृष्ठ 138
37. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 53
38. वही, पृष्ठ 125
39. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 71
40. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011. पृष्ठ 129
41. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 52-53
42. वही, पृष्ठ 69-70
43. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 57
44. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 65-66
45. वही, पृष्ठ 73
46. वही, पृष्ठ 116
47. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन दूसरा खंड; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड; नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 28
48. डॉ.. तुलसीराम; मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 37
49. वही, पृष्ठ 40-41
50. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 25

51. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे.; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 52
52. सोनकाम्बले, प्र. ई. यादों के पक्षी; अनु. डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004; पृष्ठ 34
53. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 120
54. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 63
55. वही, पृष्ठ 65
56. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 30
57. लिंबाले, शरणकुमार; अक्करमाशी; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 49
58. वही, पृष्ठ 66
59. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 22
60. वही, पृष्ठ 31
61. वही, पृष्ठ 32
62. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 37
63. वही, पृष्ठ 85-86
64. वही, पृष्ठ 86
65. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 37
66. वही, पृष्ठ 53
67. वही, पृष्ठ 78
68. वही, पृष्ठ 98
69. डॉ.. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 11
70. वही, पृष्ठ 105
71. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 26-27
72. वही, पृष्ठ 36
73. वही, पृष्ठ 92
74. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 15
75. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार; दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 17
76. वही, पृष्ठ 23
77. वही, पृष्ठ 35
78. वही, पृष्ठ 57
79. वही, पृष्ठ 89

80. लिंबाले, शरणकुमार; अक्करमाशी; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 112
81. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 28
82. वही, पृष्ठ 68
83. कांबले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललिता अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 27-28
84. वही, पृष्ठ 82
85. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली;. संस्करण 2011; पृष्ठ 25
86. वही, पृष्ठ 59
87.वही, पृष्ठ 134
88. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 50
89. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 45
90. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 52
91. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 09
92. वही, पृष्ठ 50
93. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 16
94. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 16
95. वही, पृष्ठ 28
96. वही, पृष्ठ 51
97. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 89